॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अमूल्य शिक्षा

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय पृष्ठ संख्या

——::×::——

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अमूल्य शिक्षा

अपने आत्माके समान सब जगह सुख-दुःखको समान देखना तथा सब जगह आत्माको परमेश्वरमें एकीभावसे प्रत्यक्षकी भाँति देखना बहुत ऊँचा ज्ञान है।

चिन्तनमात्रका अभाव करते-करते अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाय, कोई भी स्फुरणा शेष न रहे तथा एक अर्थमात्र वस्तु ही शेष रह जाय, यह समाधिका लक्षण है।

श्रीनारायणदेवके प्रेममें ऐसी निमग्नता हो कि शरीर और संसारकी सुधि ही न रहे, यह बहुत ऊँची भक्ति है।

नेति-नेतिके अभ्याससे 'नेति-नेति' रूप निषेध करनेवाले संस्कारकी भी शान्त आत्मामें या परमात्मामें शान्त हो जानेके समान ध्यानकी ऊँची स्थिति और क्या होगी ?

परमेश्वरका हर समय स्मरण न करना और उसका गुणानुवाद सुननेके लिये समय न मिलना बहुत बड़े शोकका विषय है।

मनुष्यमें दोष देखकर उससे घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिये। घृणा या द्वेष करना हो तो मनुष्यके अंदर रहनेवाले दोषरूपी विकारोंसे करना चाहिये। जैसे किसी मनुष्यके प्लेग हो जानेपर उसके घरवाले प्लेगके भयसे उसके पास जाना नहीं चाहते, परन्तु उसको प्लेगकी बीमारीसे बचाना अवश्य चाहते हैं, इसके लिये अपनेको बचाते हुए यथासाध्य चेष्टा भी पूरी तरहसे करते हैं, क्योंकि वह उनका प्यारा है। इसी प्रकार जिस मनुष्यमें चोरी, जारी आदि दोषरूपी रोग हों, उसको अपना प्यारा बन्धु समझकर उसके साथ घृणा या द्वेष न कर उसके रोगसे बचते हुए उसे रोगमुक्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

****

भगवान् बड़े ही सुहृद् और दयालु हैं, वह बिना ही कारण हित करनेवाले और अपने प्रेमीको प्राणोंके समान प्रिय समझनेवाले हैं। जो मनुष्य इस तत्त्वको जान जाता है, उसको भगवान्‌के दर्शन बिना एक पलके लिये भी कल नहीं पड़ती। भगवान् भी अपने भक्तके लिये सब कुछ छोड़ सकते हैं, पर उस प्रेमी भक्तको एक क्षण भी नहीं त्याग सकते।

मृत्युको हर समय याद रखना और समस्त सांसारिक पदार्थोंको तथा शरीरको क्षणभङ्गुर समझना चाहिये। साथ ही भगवान्‌के नामका जप और ध्यानका बहुत तेज अभ्यास करना चाहिये। जो ऐसा करता है, वह परिणाममें परम आनन्दको प्राप्त होता है।

मनुष्य-जन्म सिर्फ पेट भरनेके लिये ही नहीं मिला है। कीट, पतङ्ग, कुत्ते, सूअर और गदहे भी पेट भरनेके लिये चेष्टा करते रहते हैं। यदि उन्हींकी भाँति जन्म बिताया तो मनुष्य-जीवन व्यर्थ है। जिनकी शरीर और संसार अर्थात् क्षणभङ्गुर नाशवान् जडवर्गमें सत्ता नहीं है वही जीवन्मुक्त हैं, उन्हींका मनुष्य-जन्म सफल है।

जो समय भगवद्भजनके बिना जाता है वह व्यर्थ जाता है। जो मनुष्य समयकी कीमत समझता है, वह एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खो सकता। भजनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, तब शरीर और संसारमें वासना और आसक्ति दूर होती है, उसके बाद संसारकी सत्ता मिट जाती है। एक परमात्मसत्ता ही रह जाती है।

संसार स्वप्नवत् है। मृगतृष्णाके जलके समान है, इस प्रकार समझकर उसमें आसक्तिके अभावका नाम वैराग्य है। वैराग्यके बिना संसारसे मन नहीं हटता और इससे मन हटे बिना उसका परमात्मामें लगना बहुत ही कठिन है, अतएव संसारकी स्थितिपर विचारकर इसके असली स्वरूपको समझना और वैराग्यको बढ़ाना चाहिये।

भगवान् हर जगह हाजिर हैं; परन्तु अपनी मायासे छिपे हुए हैं। बिना

भजनके न तो कोई उनको जान सकता है और न विश्वास कर सकता है। भजनसे हृदयके स्वच्छ होनेपर ही भगवान्‌की पहचान होती है। भगवान् प्रत्यक्ष हैं, परन्तु लोग उन्हें मायाके पर्देके कारण देख नहीं पाते।

शरीरसे प्रेम हटाना चाहिये। एक दिन तो इस शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा, फिर इसमें प्रेम करके मोहमें पड़ना कोई बुद्धिमानी नहीं है। समय बीत रहा है, बीता हुआ समय फिर नहीं मिलता, इससे एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाकर शरीर तथा शरीरके भोगोंसे प्रेम हटाकर परमेश्वरमें प्रेम करना चाहिये।

जब निरन्तर भजन होने लगेगा, तब आप ही निरन्तर ध्यान होगा। भजन ध्यानका आधार है। अतएव भजनको खूब बढ़ाना चाहिये। भजनके सिवा संसारमें उद्धारका और कोई सरल उपाय नहीं है। भजनको बहुत ही कीमती चीज समझना चाहिये। जबतक मनुष्य भजनको बहुत दामी नहीं समझता, तबतक उससे निरन्तर भजन होना कठिन है। रुपये, भोग, शरीर और जो कुछ भी हैं, भगवान्‌का भजन इन सभीसे अत्यन्त उत्तम है। यह दृढ़ धारणा होनेसे ही निरन्तर भजन हो सकता है।

——★——

सर्वोपयोगी प्रश्न

एक सज्जनने कुछ उपयोगी प्रश्न किये हैं, यहाँ वे उत्तरसहित प्रकाशित किये जाते हैं—

(१) प्र०— सच्चा वैराग्य किस प्रकार हो ?

उ०—संसारके सम्पूर्ण पदार्थ क्षणभङ्गुर और नाशवान् होनेके कारण दुःखप्रद और अनित्य हैं, इस रहस्यको सच्चे वैराग्यवान् पुरुषोंके सङ्गसे समझनेपर सच्चा वैराग्य हो सकता है।

(२) प्र०— ईश्वर-प्राप्ति पुरुषार्थ और भगवत्कृपाद्वारा होती है, वह पुरुषार्थ किस प्रकार किया जाय और भगवत्कृपा किस तरह समझी जाय ?

उ०—सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन भगवान्‌की सब प्रकारसे शरण होना ही असली पुरुषार्थ है। अतएव भगवान्‌की शरण होनेके लिये वैराग्ययुक्त चित्तसे तत्पर होना चाहिये। भगवान्‌के नामका जप, उनके स्वरूपका ध्यान, उनकी आज्ञाका पालन और सुख-दुःखोंकी प्राप्तिके साधनोंमें एवं सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें उन परमात्माकी कृपाका पद-पदपर अनुभव करनेका नाम शरण है। और उनकी शरण होनेसे ही उनकी कृपाका रहस्य समझमें आ सकता है।

(३) प्र०— ईश्वरके दर्शन और प्राप्तिका सहज उपाय क्या है ?

उ०—अनन्य-भक्ति ही सहज उपाय है। भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(गीता ११।५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन! अनन्य-भक्तिके द्वारा तो मैं इस प्रकार

प्रत्यक्ष देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ तथा एकीभावसे प्राप्त भी किया जा सकता हूँ।'

अनन्य-भक्तिका स्वरूप यह है—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११।५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे लिये ही कर्म करता है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिसे रहित है और सम्पूर्ण प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है, वह (अनन्य भक्तिवाला पुरुष) मुझको (ही) प्राप्त होता है।'

सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति तो ज्ञानयोगद्वारा भी हो सकती है। परन्तु सगुण रूपके साक्षात् दर्शन केवल ईश्वरकी अनन्य-भक्तिसे ही होते हैं। अनन्य-भक्ति और अनन्य-शरण वस्तुतः एक ही है। परन्तु व्याख्या करते समय शरणकी व्याख्यामें अनन्य-भक्तिका और अनन्य-भक्तिकी व्याख्यामें अनन्य-शरणका वर्णन हुआ करता है। जैसे उपर्युक्त श्लोकके '**मत्परमः**' शब्दसे भगवत्-शरणका कथन किया गया है, वैसे ही गीता अध्याय ९ के ३४ वें श्लोकमें शरणके अन्तर्गत अनन्य-भक्तिका कथन आया है। गीता अध्याय ९ के ३२वें श्लोकमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनिवाले (अन्त्यज) भी मेरी शरण होकर परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

इस उपदेशके बाद आगे चलकर भगवान्‌ने ३४ वें श्लोकमें शरणका स्वरूप इस प्रकार बतलाया—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

'मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझे प्रणाम कर। इस प्रकार मेरे शरण हुआ (तू) आत्माको मुझमें एकीभाव करके मुझको ही प्राप्त होगा।'

यों तो इस सारे ही श्लोकमें 'शरण' के नामसे अनन्यभक्तिका ही वर्णन है, परंतु **'मद्भक्तो भव'** शब्दसे स्पष्टरूपमें भक्तिका कथन है।

(४) प्र०—मनुष्य ईश्वरकी जरूरत क्यों नहीं समझता ? और उस जरूरतके समझनेका उपाय क्या है ?

उ०— ईश्वरके स्वरूप, रहस्य, स्वभाव, गुण, प्रभाव और तत्त्वको न जाननेके कारण ही ईश्वरकी जरूरत मनुष्यकी समझमें नहीं आती। इस अज्ञानके नाश होते ही जरूरत समझमें आ जाती है। ईश्वरके उपर्युक्त स्वरूपादिको यथार्थतः जाननेवाले पुरुषोंके सङ्गसे ही इस अज्ञानका नाश हो सकता है।

(५) प्र०—

उमा राम सुभाउ जेहिं जाना।
ताहि भजनु तजि भाव न आना॥

भगवान्‌का ऐसा कौन-सा स्वभाव है जिसके जान लेनेपर भजन किये बिना न रहा जाय ?

उ०—भगवान् पुरुषोत्तम बिना ही कारण सबपर दया और प्रेम करनेवाले परम सुहृद् हैं, शरणागतवत्सल हैं एवं दीनबन्धु हैं इत्यादि अनेकों गुणोंसे युक्त उनके स्वभावको तत्त्वसे जान लेनेपर मनुष्य उनका भजन किये बिना नहीं रह सकता।

श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५।१९)

****

'हे भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

(गीता ५। २९)

'मुझको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित प्रेमी तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।'

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

(गीता ४। ११)

'हे अर्जुन ! जो मुझको जैसे भजते हैं, मैं (भी) उनको वैसे ही भजता हूँ। (इस रहस्यको जानकर ही) बुद्धिमान् मनुष्यगण सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार बर्तते हैं।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

(वा० रा० यु० १८। ३३)

'मेरा यह व्रत है कि जो एक बार भी मेरी शरण आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे अभय चाहता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ।'

(६) प्र०—हम बड़ी-बड़ी बातें करना ही जानते हैं, साधन नहीं करते, ऐसा क्यों होता है ?

उ०—बुरी आदतके कारण ऐसा होता है। सत्पुरुषोंके और उत्तम साधकोंके सङ्गसे एवं शास्त्रके विचारसे यह आदत नष्ट हो सकती है।

(७) प्र०—सच्चे महात्माओंके प्रति भी कभी-कभी अविश्वास होनेमें क्या कारण है ?

उ०—नास्तिक पुरुषोंका सङ्ग और पूर्वकृत पापोंके संस्कारोंका उदय; इन दो कारणोंसे सच्चे महात्माओंके प्रति भी कभी-कभी अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। अतएव विचारके द्वारा नास्तिक पुरुषोंके सङ्गका त्याग और कुसंस्कारोंका परिहार करना चाहिये। कुसंस्कारोंके नाशके लिये ईश्वरसे प्रार्थना भी करनी चाहिये।

(८) प्र०—यदि हम पुरुषार्थ नहीं करें, केवल भगवत्कृपा समझते रहें तो क्या उद्धार नहीं हो सकता ?

उ०—भगवत्कृपाके समझनेका यह दुष्परिणाम नहीं हो सकता कि जिसमें समझनेवाला भगवत्के अनुकूल पुरुषार्थसे रहित हो जाय। क्योंकि भगवान्‌की शरण होना ही असली पुरुषार्थ है और शरण होनेसे ही मनुष्य भगवान्‌की कृपाके रहस्यको समझ सकता है। फिर उस कृपाके रहस्यको समझनेवाला पुरुष पुरुषार्थहीन कैसे हो सकता है ?

(९) प्र०—भगवान् हर जगह मौजूद हैं, हमारी प्रार्थना दयार्द्र हृदयसे सुनते हैं और व्याकुल होनेपर प्रकट होकर दर्शन भी दे सकते हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास कैसे हो ?

उ०—भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव, रहस्य, लीला और तत्त्वके अमृतमय वचन उनके तत्त्वको जाननेवाले भक्तोंद्वारा पुनः-पुनः श्रवण करके मनन करनेसे एवं उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे दृढ़ विश्वास हो सकता है।

(१०) प्र०—कोई अपनेको नीचा समझता है तो वह नीचा हो जाता है, किन्तु गोसाईं तुलसीदासजी तो अपनेको दीन समझकर ही परमपदको पा गये। यह कैसे हुआ ?

उ०—नीचा कर्म करनेसे ही मनुष्य नीचा होता है, अपनेको दीन

समझनेसे नहीं। परमेश्वरके सम्मुख दीनभावसे प्रार्थना करनेवाला तो नीच भी परमपदको प्राप्त हो जाता है। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी परमपदको प्राप्त हुए, इसमें आश्चर्य ही क्या है? जो सच्चे हृदयसे अपनेको सबसे लघु, दीन समझता है, उसीका प्रभु उद्धार करते हैं क्योंकि प्रभुका नाम दीनबन्धु बतलाया गया है। दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ माननेवाला तो नीचे गिरता है। क्योंकि उसमें अहङ्कार-बुद्धि होती है और अहङ्कार अज्ञानजनित होनेसे पतनका कारण है। दूसरोंसे अपनेको श्रेष्ठ मानना ही मूढ़ता है। दीन मानना तो गुण है। अपनेको नीचा समझनेसे कोई नीचा नहीं होता, बल्कि वह तो सबसे ऊँचा समझा जाता है।

(११) प्र०—ईश्वरके प्रति सच्ची परायणता कैसे हो?

उ०—ईश्वरपरायण भक्तोंके सङ्ग और उनकी आज्ञाका पालन करनेसे हो सकती है?

(१२) प्र०—भगवान्‌को यन्त्री और अपनेको यन्त्र कैसे बनाया जा सकता है?

उ०—जो भगवान्‌के यन्त्र बन चुके हैं अर्थात् शरण हो चुके हैं, उन पुरुषोंके सङ्ग और कथनानुसार साधनसे बनाया जा सकता है।

(१३) प्र०—भगवान्‌के सच्चे भक्तोंके दर्शन कैसे हो सकते हैं?

उ०—पूर्वसञ्चित उत्तम कर्मोंके समुदायसे, भगवान्‌के भक्तोंमें सच्ची श्रद्धा होनेसे एवं भगवान् और भगवद्भक्तोंकी कृपासे सच्चे भक्तोंके दर्शन होते हैं।

परमार्थ-प्रश्नोत्तरी

प्र०—श्रीकृष्ण तथा अन्य अवतारोंकी भक्तिसे मुक्ति मिल सकती है या नहीं और मुक्तिके लिये ज्ञान तथा निर्गुण-निराकारकी उपासनाके अतिरिक्त अन्य क्या साधन हैं ?

उ०—हाँ, श्रीकृष्णादि अवतारोंकी भक्तिसे मुक्ति मिल सकती है। ज्ञानके अतिरिक्त मुक्तिप्राप्त करनेके दो साधन और हैं। सगुण परमात्माकी उपासना और निष्काम कर्म। इन्हींको लक्ष्य करके भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(३।३)

'हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे।'

यहाँ कर्मयोगमें निष्काम कर्म और भक्ति (सगुणोपासना) दोनों ही अन्तर्गत हैं। सगुणोपासनासे प्रसन्न होकर भगवान् अपनी कृपासे भक्तोंको तत्त्वज्ञान दे देते हैं जिसके द्वारा मनुष्य भगवत्तत्त्वमें प्रवेश कर जाता है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०।१०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।'

यद्यपि वेद-शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' अर्थात् ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती, तथापि भगवान्‌की कृपासे भक्तको वह ज्ञान सहजहीमें प्राप्त हो जाता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है।

इसलिये भक्तिसे मुक्ति मिल सकती है, यह माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। भक्त तो ऐसा मानते हैं कि मुक्ति भगवान्‌के अनन्य प्रेमियोंके चरणोंमें लोटती है यानी उनके चरणोंकी सेवासे मिल सकती है। किंतु वे उसकी ओर भूलकर भी नहीं ताकते, उसकी इच्छा करना तो दूर रहा। भोग और मुक्तिकी स्पृहाको भक्तोंने पिशाची बताया है—

'**भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।**'

फिर वे उसकी इच्छा क्यों करने लगे ?

स्वामी विवेकानन्दने यह कहा है कि भक्ति करनेसे भगवान् ज्ञान देते हैं तब मुक्ति होती है, यह ठीक ही है। परन्तु भक्ति करनेवालोंको भगवान् ज्ञान ही देते हैं, यह बात नहीं है। प्रेम चाहनेवालेको वे प्रेमदान देते हैं और जो उनसे कुछ भी नहीं चाहता उसके तो वे ऋणी बन जाते हैं। भगवान्‌के प्रेमी भक्त मुक्तिकी अपेक्षा भगवान्‌के समीप रहना अधिक पसंद करते हैं !

मुक्ति दो प्रकारकी होती है—(१) धाम-मुक्ति अर्थात् साकार भगवान्‌के धामकी प्राप्ति और (२) कैवल्य-मुक्ति अर्थात् निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें लय हो जाना अथवा भगवत्तत्त्वमें प्रवेश कर जाना। इनमेंसे दूसरे प्रकारकी मुक्ति तो ज्ञानसे ही होती है। भक्ति करनेवालोंको भी यह मुक्ति '**ददामि बुद्धियोगं तम्**' इस वाक्यके अनुसार भगवत्प्रसादसे ज्ञान प्राप्ति होकर होती है। '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' इत्यादि वचन इसी मुक्तिको लक्ष्यमें रखकर कहे गये हैं। पहली अर्थात् धाम-मुक्ति जिसके सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—इस प्रकार चार भेद शास्त्रोंमें कहे गये हैं—यह भेदभावकी मुक्ति प्रेमा भक्तिसे ही मिलती है। ज्ञान अर्थात् अभेदोपासनासे नहीं मिलती। अभेदोपासनासे ब्रह्ममें लय हो जानेवाली मुक्ति ही मिलती है। भेदरूपसे भगवान्‌की भक्ति करनेवाला यदि

चाहे तो उसे भगवान्‌की कृपासे कैवल्य-मुक्ति भी मिल सकती है, किंतु अभेदोपासना करनेवालोंको धाम-मुक्ति नहीं मिल सकती। यही भक्तिकी विशेषता है।

प्र०—श्रीकृष्णादि अवतार-विग्रह मायिक हैं अथवा अमायिक? उनका महत्त्व निर्गुण-निराकार ब्रह्मके समान ही है अथवा कुछ न्यूनाधिक?

उ०—भगवान्‌के अवतार-विग्रह मायाके दिव्य स्वरूपसे प्रकट होनेके कारण मायिक होनेपर भी अमायिक ही हैं। इसीलिये उस मायाको योगमाया अथवा भगवान्‌की लीला इत्यादि नामोंसे निर्दिष्ट किया गया है। अब रही परमात्माके निर्गुण और सगुण स्वरूपके तारतम्यकी बात, सो निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपका तो वर्णन ही नहीं हो सकता, वह तो मन, वाणी और बुद्धिसे अगोचर, अनिर्वचनीय है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'

'न तत्र बुद्धिर्गच्छति न वागच्छति...'

जो कुछ वर्णन होता है वह सगुण परमात्माका ही होता है। सगुण ब्रह्मके दो भेद हैं—साकार और निराकार। प्रभुके जितने भी विशेषण पाये जाते हैं सभी उनके आभूषण रूप हैं, सभी उनके स्वरूपको सजानेवाले हैं, उनकी ओर जीवको आकर्षण करनेवाले हैं। यद्यपि वास्तवमें उनके स्वरूपका वर्णन हो ही नहीं सकता, फिर भी जो कुछ किया जाता है सभी कल्याणकारक है। इसलिये प्रभुके निराकार और साकार दोनों ही विशेषण अतिशय महत्त्ववाले हैं, किसको छोटा और किसको बड़ा कहा जाय? दोनों ही विशेषणोंसे विशिष्ट जो धर्मी है वह एक है, आवश्यकतानुसार नटकी भाँति अपनी योगमायासे स्वरूप बदलता रहता है। प्रधान वस्तु धर्मी है और वह एक ही है।

****

प्र०—गीताप्रेसकी टीकामें श्रीमद्भगवद्गीताके ७वें अध्यायके २४ वें श्लोककी व्याख्यासे यह ध्वनि निकलती है कि साकार विग्रह मायिक है, असली स्वरूप नहीं है ?

उ०—यहाँ मायिक शब्दका तात्पर्य क्या है—यह भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेना चाहिये। माया कहते हैं ईश्वरकी प्रकृति अथवा शक्तिको और वह शक्ति शक्तिमान् अर्थात् ईश्वरसे भिन्न नहीं है। जैसे अग्नि अपनी दाहिका शक्तिसे भिन्न नहीं है। ईश्वर अपनी शक्तिसे ही प्रकट होते हैं और अपनी शक्तिसे ही अन्तर्हित हो जाते हैं अर्थात् छिप जाते हैं। यही उनकी लीला है और वह अत्यन्त रहस्यमयी है। यही भगवान्‌की ज्ञानमयी विशुद्ध दिव्य माया है और वह अलौकिक है, इसलिये भगवान्‌की लीलासे आविर्भूत हुए साकार विग्रहको नकली नहीं मानना चाहिये।

प्र०—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** इस भगवद्वाक्यका उपर्युक्त सिद्धान्तसे विरोध पड़ता है ?

उ०—विरोध नहीं है। उक्त श्लोकसे तो उलटे इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है, **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** का यह अर्थ नहीं है कि ब्रह्म मेरे आधारपर स्थित है, अर्थात् मैं आधार हूँ और ब्रह्म आधेय है। सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार कोई दो तत्त्व नहीं हैं कि उनमें आधाराधेयभाव अथवा व्याप्य-व्यापकभाव-सम्बन्ध घट सके। दोनों एक ही तत्त्वके दो स्वरूप हैं। स्वरूपगत भेद होते हुए भी वस्तुतः एक ही है और इसी एकतामें उपर्युक्त श्लोकका तात्पर्य है। **'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'** का अर्थ यही है कि जिसे ब्रह्म कहते हैं वह मैं ही हूँ। मुझमें और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है।

प्र०—शिव और विष्णुको मोह क्यों हुआ ?

उ०—शैवपुराणोंमें विष्णु और वैष्णवपुराणोंमें शिवके मोहका जो वर्णन मिलता है उसके भी रहस्यको समझना चाहिये। भगवान्‌के भिन्न-भिन्न

साकार विग्रहोंकी महत्ता सिद्ध करनेके लिये ही भिन्न-भिन्न पुराणोंकी सृष्टि हुई है। भगवान्‌के सभी विग्रह महत्त्ववाले हैं और भिन्न होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं। सभी पुराणोंमें ग्रन्थकारका लक्ष्य तत्तदिष्टके रूपमें ब्रह्मकी ओर ही है। शिवपुराणके शिव, विष्णुपुराणके विष्णु और ब्रह्मवैवर्त तथा भागवतपुराणके कृष्ण एक ही हैं अर्थात् शुद्ध विज्ञानानन्द ब्रह्म ही हैं। वही ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें प्रकट होकर संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारका कार्य करते हैं। यह सब उनकी लीला है। लीलासे की हुई उनकी क्रियाओंमें दोष नहीं है, भूलसे दोष-सा प्रतीत होता है। क्योंकि ईश्वरकी लीलाओंका रहस्य प्रत्येक साधारण बुद्धिवाले मनुष्यके लिये दुर्विज्ञेय है। वास्तवमें उन्हें मोह नहीं हुआ।

प्र०—श्रीमद्भगवद्गीतामें जहाँ-जहाँ अहम्, माम्, मम, मे, मया, मयि इत्यादि उत्तम पुरुषके प्रयोग आये हैं वे सब आत्माके वाचक हैं, भगवान् श्रीकृष्णके नहीं।

उ०—यह युक्तिसंगत नहीं है। **'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'** इत्यादि श्लोकोंमें आये हुए, अहम्, माम्, मम, मे, मया, मयि आदिका यह अभिप्राय समझना चाहिये कि सबका आत्मा मैं ही हूँ अर्थात् मैं जो श्रीकृष्णरूपसे तुम्हारे सामने खड़ा हूँ वही निराकाररूपसे सबमें व्याप्त हूँ—सबके हृदयमें स्थित हूँ (गीता १५। १५; १८। ६१)। यहाँ आत्माकी प्रधानता नहीं अपितु परमात्मा श्रीकृष्णकी प्रधानता है। आपके कथनानुसार आत्माकी प्रधानता कदापि इष्ट नहीं है।

प्र०—परमात्माका सर्वोत्कृष्ट साकार विग्रह कौन-सा है ?

उ०—इस सम्बन्धमें सिद्धान्त तो यह है कि भगवान्‌के सभी विग्रह दिव्य एवं श्रेष्ठ हैं, किन्तु आप यदि चतुर्भुजरूपको श्रेष्ठ मानें तो मान सकते हैं इसमें कोई आपत्ति नहीं है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि

भगवान् श्रीकृष्णके द्विभुज श्यामसुन्दर रूपका उपासक उसी रूपको सर्वोत्तम मान सकता है। जिसके लिये शास्त्रानुकूल जो रूप रुचिकर हो और जिसको वह सर्वश्रेष्ठ मानकर उपासना करता है उसके लिये वही सबसे बढ़कर है। शास्त्रोंमें जहाँ जिस रूपका प्रसङ्ग होता है, भक्तोंकी श्रद्धा और रुचि बढ़ानेके लिये वहाँ उसीको बड़प्पन दिया जाता है। यह नियम युक्तिसङ्गत है और एकाङ्गी उपासनाके लिये इसकी आवश्यकता है।

प्र०—भगवान्का चतुर्भुजरूप देखनेके लिये दिव्यचक्षुकी आवश्यकता है। द्विभुजरूपके लिये उसकी जरूरत नहीं ?

उ०—भगवान्के दिव्य चतुर्भुजरूपके दर्शन उनकी दयासे इन चक्षुओंसे भी हो सकते हैं। बालक ध्रुवको इन्हीं नेत्रोंसे भगवान्के दर्शन हुए थे। चतुर्भुजरूपका ही क्यों, भगवान्के सभी दिव्य विग्रहोंके दर्शन उनकी दयासे चर्मदृष्टिसे भी हो सकते हैं। हाँ, जिस चर्मदृष्टिसे भगवान्के दर्शन होते हैं उसको भी पवित्र होनेके नाते हम दिव्य कह सकते हैं।

प्र०—अनधिकारियोंको भी दर्शन हो सकते हैं या नहीं ? दर्शन होनेपर भी क्या पाप रह सकते हैं ?

उ०—जिस समय भगवान् पृथ्वीपर अवतार लेते हैं उस समय अधिकारी, अनधिकारी जो कोई भी उनके सम्मुख अथवा सम्पर्कमें आ जाते हैं उन सबको भगवान्के दर्शन अनायास ही हो जाते हैं; किन्तु भगवान्को बिना पहचाने, उनके तत्त्वको बिना समझे जो उनके दर्शन होते हैं वे विशेष मूल्यवान् नहीं कहे जा सकते और न वे मुक्तिदायक ही होते हैं। दर्शन हो जानेपर भी प्रभुको पहचाननेसे ही मनुष्यके सारे पाप छूटते हैं और तभी वह परमपदका अधिकारी बनता है। गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

****

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

(४ । ९)

'हे अर्जुन ! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह शरीरको त्याग कर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है।'

भगवान् श्रीराम-कृष्णादिरूपसे जिस समय पृथ्वीपर विराजते थे उस समय जिन लोगोंको उनके दर्शन हुए वे सभी धन्य थे, किन्तु उनमेंसे सभी मुक्त हो गये हों, यह बात नहीं कही जा सकती; क्योंकि वे सभी भगवान्को भगवान्के रूपमें नहीं देखते थे।

प्र०—भगवद्दर्शनके बाद जो दशा ध्रुवकी हुई वह उन राक्षसों आदिकी क्यों नहीं होती थी जो भगवान्के सम्मुख आकर उनसे लोहा लेते थे ?

उ०—वे राक्षसादि भगवान्के सम्मुख आनेपर भी उन्हें भगवान्के रूपमें पहचानते नहीं थे, इसीसे भगवद्दर्शन होनेपर भी उनकी ध्रुवकी-सी दशा नहीं होती थी। हाँ, जो लोग भगवान्के हाथसे मारे जाते थे वे उन्हें न पहचाननेपर भी मुक्त हो जाते थे। यह भगवान्की विशेष दयालुता है। पारसका दृष्टान्त इसीमें घटाना चाहिये। जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा भी सोना हो जाता है उसी प्रकार भगवान्के हाथसे जिनकी मृत्यु होती थी वे महान्-से-महान् पापी होनेपर भी अथवा भगवान्को भगवान् न जाननेपर भी मुक्त हो जाते थे। जैसे विष देनेवाली पूतनाको भी भगवान्ने उत्तम गति दी। यह तो दयामय प्रभुकी अतिशय दयालुता एवं अनुपम उदारताका ही परिचायक है। मरते समय जिस किसी भावसे भी भगवान्का स्पर्श हो जानेपर जीवकी मुक्ति हो जाती है, यह भगवान्का विशेष कानून है और इसके अंदर उनकी अतिशय दया भरी हुई है। अन्त समयमें भगवान्के नाम-स्मरणसे ही जब मनुष्यका कल्याण हो

जाता है तब उनके साक्षात् दर्शन अथवा स्पर्श हो जानेपर यदि किसीकी मुक्ति हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

भगवान्‌की शरण होने पर तो पापी-से-पापी भी शाश्वत सुखके अधिकारी हो जाते हैं। वास्तवमें पारसका दृष्टान्त भी भगवान्‌के महत्त्वको समझानेके लिये पर्याप्त नहीं है; क्योंकि पारसके साथ लोहेका स्पर्श होनेसे ही वह सोना बनाता है, दर्शनमात्रसे नहीं— किन्तु भगवान्‌को भगवान्‌के रूपमें देखनेसे तो मनुष्य कल्याणका भाजन हो जाता है। इसके अतिरिक्त पारस तो लोहेको सोना ही बनाता है, पारस नहीं बना सकता, किन्तु भगवान्‌को भगवान्‌के रूपमें देख लेनेपर मनुष्य भगवद्रूप ही हो जाता है। वह दूसरोंको भी भगवद्रूप बना सकता है।

भगवान्‌के सङ्ग क्रीडा करनेवाले गोपबालक और गोपबालाएँ तो परम अधिकारी हो गयीं। गीध और शबरीको भी उन्होंने योगिदुर्लभ गति दे दी; रीछ और वानरोंको भी उन्होंने जगत्पावन बना दिया और उनके हाथसे मरे हुए असंख्य राक्षस एवं आततायी सहजहीमें मुक्त हो गये। भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें श्रीरामायणादि ग्रन्थोंमें लेख मिलता है कि परमधामको पधारते समय वे सारे अयोध्यावासियोंको— मनुष्योंको ही नहीं अपितु पशु, पक्षी आदि असंख्य जीवोंको भी अपने लोकमें ले गये।

प्र०—नर-ऋषिके अवतार दैवी-सम्पदासे विभूषित भक्तश्रेष्ठ अर्जुनकी गीतोपदेशसे पूर्व भगवान्‌के साथ खाने-पीने, सोने और उठने-बैठनेपर भी क्या मुक्ति नहीं हुई ?

उ०—अर्जुन तो वास्तवमें एक प्रकारसे मुक्त ही थे। उनके अंदर जो कुछ यत्किञ्चित् कमी थी वह भी लोककल्याणकारी ही हुई, क्योंकि उसकी पूर्तिके बहाने भगवान्‌ने गीताके अनुपम ज्ञानका जगत्‌को उपदेश दिया।

प्र०—भगवान्‌के किस साकार-विग्रहकी पूजा स्वयं भगवान्‌की पूजा है?

उ०—भगवान्‌के राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश, सूर्यादि सभी साकार-विग्रहोंकी पूजा साक्षात् भगवान्‌की ही पूजा है तथा आर्षग्रन्थोंमें जिन देवताओंको ईश्वरका दर्जा दिया गया है, उनकी ईश्वरभावसे की गयी पूजा स्वयं भगवान्‌की ही पूजा है। वास्तवमें ये सब नाम परब्रह्म परमात्माके ही वाचक हैं, क्योंकि पुराणोंके रचयिता महर्षि वेदव्यासने भिन्न-भिन्न पुराणोंमें इन-इन देव-विग्रहोंके द्वारा जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय आदिका वर्णन किया है और ये सभी धर्म सगुण ब्रह्मके हैं। यही नहीं, उन्होंने इन विग्रहोंके अंदर ब्रह्मके और-और लक्षण भी घटाये हैं। वास्तवमें जिसके अंदर ब्रह्मके पूर्ण लक्षण विद्यमान हों वही ब्रह्म है। अनेक नाम-रूपोंसे एक ही ब्रह्मकी लीला अनेक प्रकारसे बतलायी है। इसलिये प्रामाणिक आर्षग्रन्थोंमें जिनको ईश्वरत्व दिया गया है उनकी पूजा ईश्वरकी ही पूजा है। इनके अतिरिक्त सारे देवता अन्य देवता माने जाने चाहिये। उनकी पूजा भी भगवान्‌की पूजा है, क्योंकि उनके अंदर भी ब्रह्मकी ही सत्ता है; परन्तु भगवान्‌से भिन्न माननेके कारण सकामभावसे की हुई वह पूजा अविधिपूर्वक मानी गयी है।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

(गीता ९। २३)

'हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धासे युक्त हुए जो सकामी भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मेरेको ही पूजते हैं, किन्तु उनका वह पूजना अविधिपूर्वक है, अर्थात् अज्ञानपूर्वक है।'

प्र०—स्त्रीके लिये पतिकी, शिष्यके लिये गुरुकी, पुत्रके लिये माता-पिताकी सेवा-भक्ति भी क्या मोक्षदायक हो सकती है?

उ०—अवश्य हो सकती है जब कि वह ईश्वरकी आज्ञा मानकर ईश्वरके

****

लिये एवं ईश्वर-बुद्धिसे की जाय। क्योंकि शास्त्र सब ईश्वरकी आज्ञा है और ईश्वर मानकर की हुई सेवाभक्ति ईश्वरकी ही भक्ति समझी जाती है।

प्र०—चराचर प्राणियोंको ईश्वर मानकर उनकी सेवा करना अर्थात् विश्वरूप भगवान्‌की पूजा करना उत्तम है अथवा मूर्तिपूजा?

उ०—चराचर विश्वको ईश्वरका स्वरूप मानकर उसकी पूजा करना और उनकी पार्थिव अथवा मानसिक मूर्तिकी भगवद्भावसे पूजा-अर्चा करना दोनों ही उत्तम हैं। श्रद्धा और भक्तिसे की जानेवाली दोनों प्रकारकी पूजा एक ही फलको देनेवाली है। जिसकी जैसी रुचि हो वह दोनोंमेंसे किसी प्रकारकी पूजा कर सकता है। यदि वह दोनों ही प्रकारकी पूजा एक साथ करे तो और भी उत्तम है!

प्र०—क्या ब्रह्महत्यादिकी अपेक्षा भी झूठ बोलनेमें अधिक पाप है?

उ०—यह बात नहीं है। झूठकी पापोंमें गणना है और ब्रह्महत्या आदिको शास्त्रोंमें महापातक बतलाया है। इसलिये झूठको ब्रह्महत्यादिकी अपेक्षा बड़ा पाप नहीं कह सकते। हाँ, अन्य पापोंकी (महापातकोंकी नहीं) अपेक्षा झूठ बोलनेमें अधिक पाप माना गया है, क्योंकि झूठ एक प्रकारसे प्रायः सब पापोंकी जड़ है। झूठसे और-और भी पाप मनुष्य करने लगता है। इसीलिये झूठको और-और पापोंसे अधिक बताया गया है।

प्र०—आजकल लोग सत्यको विशेष आदर नहीं देते और कामिनी-काञ्चन तथा अभिमानके त्यागियोंमें भी असत्यका सर्वथा अभाव नहीं पाया जाता?

उ०—इतने अंशकी उनके अंदर कमी ही माननी चाहिये। इस प्रकारके त्यागियोंमें प्रथम तो असत्यका दोष जान-बूझकर घटना ही नहीं चाहिये। क्योंकि राग-द्वेषके वश ही मनुष्य प्रायः झूठ बोलता है और ऐसे निरभिमानी पुरुषोंमें राग-द्वेषादि नहीं होने चाहिये; और यदि किसी

अंशमें उनके अंदर ये दोष घटते हैं तो इतने अंशमें उनके लिये लाञ्छन ही है और उनके त्यागके महत्त्वको घटानेवाले हैं। यदि वे लोग सत्यको जितना आदर देना चाहिये उतना नहीं देते तो यह उनकी भूल ही है। इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? सत्य परमात्माका स्वरूप है। केवल सत्यके आश्रयसे मनुष्य मोक्षका अधिकारी बन सकता है। सत्य अमृत है; सत्य सब गुणोंकी खानि है और यही सनातन धर्म है। अतएव—

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

(मनु० ४।१३८)

'सत्य और प्रिय बोले, किन्तु सत्य होनेपर भी अप्रिय न बोले यानी मौन रहे, और प्रिय होनेपर भी झूठ न बोले—यह सनातन धर्म है।'

प्र०—क्या कायिक तपकी अपेक्षा वाचिक, मानसिक तप विशेष मूल्यवान् हैं ?

उ०—श्रीमद्भगवद्गीतामें तपके कायिक, वाचिक और मानसिक—इस प्रकार तीन विभाग किये गये हैं। वे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं अर्थात् कायिककी अपेक्षा वाचिक श्रेष्ठ है और मानसिक वाचिकसे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि इनके आचरणका उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व है। किन्तु तीनों ही परस्पर सम्बद्ध एवं एक दूसरेके सहायक हैं। इसलिये किसीको भी अनावश्यक नहीं कहा जा सकता। कायिक और वाचिक तप, मानसिक तपमें सहायक हैं और मनोनिग्रह हो जानेपर शरीर और इन्द्रियोंका निग्रह अपने-आप हो जाता है, क्योंकि मन इन सबका राजा है। भगवान्‌ने तीनों ही प्रकारके सात्त्विक तपको पावन करनेवाला एवं अवश्य कर्तव्य बताया है। इसलिये भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌की प्राप्तिके लिये निष्कामभावसे तीनों प्रकारके ही तपका साधन करना चाहिये।

****

प्र०—क्या भगवान्‌का अनन्य-चित्तसे नित्य-निरन्तर स्मरण अन्य सब साधनोंसे श्रेष्ठ है ?

उ०—इसकी श्रेष्ठता तो सर्वप्रमाणसिद्ध है ही। नित्य-निरन्तर अनन्य-चित्त होकर स्मरण करनेवालेके लिये भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बताया है और अर्जुनको स्पष्टरूपसे यह आज्ञा दी है कि तू मुझे सर्वकालमें स्मरण करता हुआ ही युद्ध कर, यह नहीं कि सर्वकालमें युद्ध करता हुआ मुझे स्मरण कर, क्योंकि युद्ध तो सर्वकालमें हो नहीं सकता और स्मरण सर्वकालमें—खाते, पीते, उठते, बैठते, बात करते हो सकता है। इस प्रकार सब साधनोंमें स्मरणकी प्रधानता तो स्वयं भगवान्‌ने जगह-जगह बतलायी है। यज्ञ, दान, तप आदि वर्णाश्रमोचित कर्तव्य कर्म भी भगवत्स्मरण करते हुए ही होने चाहिये। यदि भगवत्स्मरणके कारण इनमें किसी प्रकारकी कमी आ जाय तो इतनी आपत्तिकी बात नहीं है, किन्तु स्मरणमें भूल नहीं होनी चाहिये। क्योंकि यही सबसे बड़ा साधन है और इसीमें प्रधान-रूपसे सबको तत्पर हो जाना चाहिये। इस एकके सध जानेसे सब कुछ अपने-आप सध जाते हैं और इस एककी कमी है तो सभी बातोंकी कमी है—

नाम रामको अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून॥

★

प्रश्नोत्तर

दो सज्जनोंने श्रीभगवान् एवं श्रीमद्भगवद्गीताके सम्बन्धमें कुछ प्रश्न किये हैं। प्रश्न सार्वजनिक हैं और ऐसे प्रश्न अनेकों पुरुषोंके मनमें उठते होंगे। इसलिये उनका उत्तर यहाँ दिया जाता है।

पहले सज्जनके—

(१) प्रश्न—

(क) मैं चाहता हूँ मेरा भगवान्से प्रेम हो जाय।

(ख) मुझे उनके समान प्रेमी और सुहृद् अन्य कोई न जान पड़े, और—

(ग) मैं उनके लिये सच्चे दिलसे रोऊँ, परन्तु ऐसा होता नहीं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—

(क) भगवान्में प्रेम न होनेका प्रधान कारण श्रद्धाकी कमी है। यद्यपि भगवान्में प्रेम होनेकी चाहना ही प्रेमकी प्राप्तिका एक प्रधान उपाय है परन्तु यह चाहना बहुत ही उत्कट होनी चाहिये। ऐसी उत्कट इच्छा होनेका उपाय श्रद्धाकी अतिशयता ही है। भगवान्के प्रभाव और गुणोंको जाननेसे भगवान् क्या हैं और उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है, इसके रहस्यको तत्त्वसे समझनेसे श्रद्धा होकर प्रेम हो सकता है।

वास्तवमें सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ भगवान् विज्ञानानन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान हैं; अंश और अंशीरूपसे उनके साथ प्राणीमात्रका अटूट सम्बन्ध है तथा उनसे बढ़कर हमारा कोई भी सुहृद् नहीं है। इस बातको समझ लेनेपर भगवान्का वियोग असह्य हो जाता है। जैसे छोटे बालकका माता-पितामें स्वाभाविक प्रेम होता है,

अंशी होनेके नाते वैसा ही स्वभावसिद्ध अनिवार्य प्रेम हमारा परमेश्वरमें होना चाहिये। यदि नहीं होता तो यह बात सिद्ध होती है कि हमलोगोंने इस विषयको यथार्थ समझा नहीं। यही बात गुण और प्रभावके विषयमें है। जब परिमित गुण-प्रभाववाले मनुष्योंके गुण-प्रभाव जान लेनेपर उनमें भी प्रेम हो जाता है, तब जिनमें प्रेम, दया, शान्ति, सुहृदता, वत्सलता आदि गुण और बुद्धि, बल, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि प्रभाव अपरिमित हैं, उन अपने अंशी यानी स्वामी परमात्मामें स्वाभाविक ही अनन्य प्रेम न होना इसी बातको प्रमाणित करता है कि हम उन्हें तत्त्वसे जानते नहीं।

(ख) वास्तवमें भगवान्‌के समान प्रेमी, सुहृद् अन्य कोई भी नहीं है परन्तु ऐसा मालूम नहीं होता; इसका कारण यह है कि साधारण लोगोंकी दृष्टिसे तो भगवान् अदृश्य हैं और भगवान्‌को जाननेवाले लोगोंसे हमारा पूरा परिचय या प्रेम नहीं है। इसलिये यदि हम यह समझना चाहते हों कि एक परमेश्वर ही सबसे बढ़कर प्रेमी और सुहृद् हैं तो उनके प्रेम, प्रभाव और तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सङ्ग करके उनके बतलाये हुए मार्गपर चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यदि ऐसे पुरुषोंसे परिचय न हो या उनका मिलना और पहचानना कठिन हो तो महान् पुरुषोंकी जीवनी, उनके द्वारा रचित ग्रन्थ एवं ऐसे सत्-शास्त्रोंका अध्ययन-मनन करना चाहिये जिनमें भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और तत्त्वकी विशेष आलोचना की गयी हो।

(ग) भगवान्‌के लिये सच्चे दिलसे रोना न आनेमें दो कारण हैं— श्रद्धाकी कमी और पूर्वसञ्चित पाप। भगवान् अदृश्य होनेके कारण उनमें और उनके गुण-प्रभाव आदिमें पूरा विश्वास नहीं होता, यह बात निश्चयरूपसे मनमें नहीं जँचती कि वे सब जगह सदा-सर्वदा मौजूद हैं और हमारी करुण पुकार तत्काल सुनते और उसपर दयार्द्र-हृदयसे ध्यान देते हैं। इसके लिये पूर्वोक्त उपायसे श्रद्धा बढ़ानी चाहिये और सञ्चित पापोंके

नाशके लिये निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌की आज्ञाका पालन और भजन-ध्यान करना चाहिये।

(२) प्र०—मनको जीतनेमें अशक्तिका अनुभव क्यों होता है ?

उ०—इसमें चार कारण हैं—

(क) जीवात्मा अपने सामर्थ्यको भूला हुआ है।

(ख) साधारण चेष्टा करके बार-बार विफल होनेसे निराशा-सी हो गयी है।

(ग) मनको स्वतन्त्रता दे रखी है। और—

(घ) विषयोंमें आसक्ति है।

जैसे कोई समर्थ पिता स्नेहासक्तिवश बालकको स्वतन्त्रता दे देता है जिससे बालककी आदत बिगड़ जाती है और वह उद्दण्ड होकर मनमाना आचरण करने लगता है, परन्तु वही पिता जब बालककी स्वतन्त्रता छीनकर अपनी शक्तिका बड़ी सावधानीके साथ पूरा प्रयोग करता है और साम, दाम आदि नीतिसे उसे वशमें करनेकी चेष्टा करता है तब सम्भवतः वह बिगड़ा हुआ बालक पुनः ठीक रास्तेपर आ जाता है, बस यही दशा मनकी है; मन स्वतन्त्र होकर उद्दण्ड हो गया है। अतएव मनुष्यको उचित है कि वह अपनी सामर्थ्यकी ओर ध्यान देकर साम, दाम आदि नीतिके द्वारा मनकी बुरी आदतोंको दूरकर उसकी उद्दण्डताका नाश करके उसे ठीक राहपर लानेके लिये तीव्र अभ्यास करे। बालक तो शायद पिताके शक्तिप्रयोग करनेपर भी उद्दण्डता छोड़कर ठीक राहपर न भी आवे परन्तु मनके लिये तो दूसरा आश्रय ही नहीं है। उसे तो बाध्य होकर ठीक रास्तेपर आना ही पड़ेगा। सम्भव है कि पहले-पहले कुछ निष्फलता-सी हो परन्तु उत्साह कम न होने देना चाहिये। निष्फल होनेपर भी पूर्ण उत्साहसे पुनः-पुनः प्रयत्न करना चाहिये। उत्साही पुरुष निश्चय ही मनको अपने वशमें कर लेते हैं। यह याद रखना चाहिये कि आत्माके सामने मनकी शक्ति अत्यन्त तुच्छ है। आत्मा मनकी अपेक्षा सब प्रकार श्रेष्ठ और बलवान् है। भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

(गीता ३ । ४२)

अर्थात् (इस शरीरसे तो) इन्द्रियोंको परे (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) कहते हैं, इन्द्रियोंसे परे मन है और मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे (भी) अत्यन्त परे है वह (आत्मा) है। इसीलिये भगवान् मनको जीतकर आत्माको हानि पहुँचानेवाले आसक्तिरूप कामको मारनेका आदेश करते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

(गीता ३ । ४३)

अर्थात् इस प्रकार बुद्धिसे परे यानी सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर, बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो ! (अपनी शक्तिको समझकर इस) दुर्जय कामरूप शत्रुको मार !

(३) प्र०—-विषयोंके त्याग करनेमें असमर्थता क्यों मालूम होती है ?

उ०—विषयोंके भोगमें प्रथम क्षणिक सुख और आरामका प्रत्यक्ष प्रतीत होना और उसके परिणाममें होनेवाला दुःख प्रत्यक्ष न होकर दूर होनेके कारण उसमें पूरा विश्वास न होना, (यानी कौन जानता है आगे चलकर कब क्या दुःख होगा, अभी तो प्रत्यक्ष सुख है ऐसी धारणा) यही विषयोंके त्यागमें असमर्थता-सी प्रतीत होनेका कारण है। वास्तवमें तो विषयोंमें सुख है ही नहीं, क्योंकि विषयोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख क्षणिक, भोगकालमें सदा एक-सा न रहकर सतत बदलनेवाला तथा नाशवान् है। सुखका मिथ्या आभास ही अज्ञानके कारण मनुष्यको सुखमय प्रतीत होता है। जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब जलके अंदर सूर्य-सा दिखायी देता है परन्तु वास्तवमें वह सूर्य नहीं है, इसी प्रकार उन आनन्दघन परमात्माके केवल किसी एक अंशमात्रका, विषयोंमें प्रतीत

होनेवाला प्रतिबिम्ब वस्तुतः सुख नहीं है। इस रहस्यके समझमें आते ही विषय-त्यागमें प्रतीत होनेवाली असमर्थता नष्ट हो जाती है फिर स्वाभाविक ही विषयोंका त्याग हो जाता है। विचार करना चाहिये कि जो वस्तु वास्तवमें सत् होती है उसका कभी अभाव नहीं होता और जिसका आदि-अन्तमें अभाव है वह वस्तु वास्तवमें सत् नहीं है। ऐसी वस्तुका मध्यमें भी अभाव ही समझना चाहिये, जैसे स्वप्नका संसार। इसी तत्त्वको समझकर ज्ञानीजन नाशवान् दुःखपूर्ण क्षणिक विषयोंमें आसक्त नहीं होते। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

अर्थात् '(ये) जो इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे (यद्यपि अज्ञानी विषयी पुरुषोंको सुखस्वरूप भासते हैं तो भी) निःसन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले यानी अनित्य हैं (इसलिये) हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

अतएव विषयोंके त्याग करनेके लिये बारंबार उनमें दुःख और दोष-दृष्टि करके उनसे मनको हटाना चाहिये!

(४) प्र०—भगवान्‌में श्रद्धा क्रमशः घटनेका क्या कारण है?

उ०—इसमें कई कारण हैं, जैसे—

(क) अज्ञानवश संसारके विषयोंमें आसक्ति होना।

(ख) विषयोंका तथा विषयासक्त पुरुषोंका संसर्ग।

(ग) सच्छास्त्र और सत्पुरुषोंके सङ्गकी कमी।

(घ) निष्कामभावसे भगवान्‌के नाम-जप और स्वरूपके ध्यानका उचित अभ्यास न होना।

(ङ) मुख्यतः भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और तत्त्वको न जानना।

असलमें तत्त्वको जानकर निष्कामभावसे होनेवाली वास्तविक श्रद्धाके घटनेका तो कोई कारण ही नहीं है। वह तो साधनको प्रबल बनाती है और उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। परन्तु अज्ञानपूर्वक किसी कामनाके हेतुसे होनेवाली श्रद्धा घट भी सकती है। इसके लिये विषयोंका, विषयासक्त पुरुषोंका एवं आसक्ति तथा कामनाओंका यथासाध्य त्यागकर निष्कामभावसे यथासाध्य सच्छास्त्र और सत्पुरुषोंमें श्रद्धा, प्रेमसे उनका सङ्ग एवं सतत भजन-ध्यानका अभ्यास विशेषरूपसे करना चाहिये। ऐसा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होनेसे वह भगवान्‌का तत्त्व जान लेता है तब श्रद्धा वास्तविक होती है और फिर उसके घटनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

(५) प्र०—अपनेको यन्त्र और भगवान्‌को यन्त्री किस प्रकार समझा जाय ?

उ०—ईश्वरकी दया और महापुरुषोंके सङ्गसे ही भगवान्‌को यन्त्री और अपनेको यन्त्र समझा जा सकता है। यदि कहा जाय कि ईश्वरकी दया तो सबपर सदा ही समानभावसे अपार है ही फिर ऐसा क्यों नहीं समझा जाता ? इसका समाधान यह है कि अवश्य ही ईश्वरकी सब लोगोंपर अपार दया है, परन्तु इस बातको लोग मानते नहीं, इसी कारण दया उनके लिये फलती नहीं। ईश्वरकी नित्य अपार दयाका मनुष्यको पद-पदपर अनुभव करना चाहिये। ईश्वरकी दयाका रहस्य समझमें आ जानेपर उसी क्षण मनुष्य अपने-आपको सम्पूर्णरूपसे उन यन्त्री भगवान्‌के प्रति समर्पण कर देता है। यानी सब प्रकारसे वह श्रीभगवान्‌के शरण होकर अपनेको सदाके लिये उन्हें सौंप देता है। वह फिर ऐसा किये बिना रह ही नहीं सकता।

(६) प्र०— भगवान्‌के सच्चे भक्तोंके दर्शन और उनकी पहचान किस प्रकार हो ?

उ०—सच्चे भक्तोंके दर्शन होनेमें हेतु पूर्वकृत पुण्यसञ्चय, ईश्वरकी दया,

उनके भक्तोंकी दया और ऐसे महात्मा भक्त पुरुषोंमें श्रद्धा और प्रेमका होना ही है। भक्तके मिलनेपर भी उनको पहचानना बहुत कठिन है। वास्तवमें ईश्वरकी दया और भक्तोंकी दयासे ही भक्तकी पहचान हो सकती है। क्योंकि साधारण पुरुष अपनी बुद्धिसे भक्तोंको यथार्थरूपमें नहीं पहचान सकता। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १२में श्लोक १३ से २० तक भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन है, परन्तु उन लक्षणोंसे यथार्थ निर्णय करके भक्तको पहचानना साधारण बुद्धिका काम नहीं है। हाँ, जिनके दर्शन, भाषण, स्पर्श और चिन्तन आदिसे अवगुणों और दुराचारोंका क्रमशः नाश और सद्गुण, सदाचार एवं ईश्वर-भक्तिकी क्रमशः वृद्धि हो, साधारणतया उन्हींको ईश्वरके यथार्थ भक्त समझना चाहिये।

दूसरे सज्जनके—

(१) प्र०—

(क) गीता अध्याय ९ श्लोक २३ के अनुसार जब सात्त्विक देवोंकी पूजा भी भगवान्‌की अविधिपूर्वक पूजा है तो फिर विधिपूर्वक कौन-सी है और उसका क्या स्वरूप है?

(ख) वे अन्य देवता कौन-से हैं?

(ग) 'माम्' शब्दसे यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका आदेश केवल श्रीकृष्ण-स्वरूपकी पूजासे ही है अथवा श्रीराम, नारायण या निर्गुण ब्रह्मकी पूजा भी इसके अनुसार हो सकती है?

उ०—

(क) भगवान्‌ने यहाँ अन्य देवताओंकी सकाम पूजाको ही देवताओंके लिये विधिपूर्वक होते हुए भी अपने लिये अविधिपूर्वक बतलाया है, क्योंकि उन देवताओंद्वारा जो फल मिलता है वह तो श्रीभगवान्‌का ही विधान किया हुआ होता है। **'मयैव विहितान् हि तान्'** और फल उनको अन्तवन्त प्राप्त होता है इसलिये अन्य देवताओंकी सकामोपासना

करनेवाला श्रीभगवान्‌के प्रभावको नहीं जानता है। परन्तु फल और आसक्तिको छोड़कर भगवान्‌की आज्ञा मानकर निष्कामभावसे देव-पूजा करना भगवान्‌की ही पूजा है। इसीको भगवान् अपनी सात्त्विक और विधिपूर्वक पूजा बताते हैं।

(ख) अन्य देवताओंसे श्रीभगवान्‌का उद्देश्य शास्त्रोक्त देवताओंसे है जिनमें मुख्यतः ३३ हैं—आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजापति। इसके सिवा विश्वेदेवा देवता, अश्विनीकुमार, मरुद्गण आदि और भी बहुत-से शास्त्रोक्त देव हैं। इनमेंसे जिस किसी देवताको परात्पर ब्रह्म मानकर साधक पूजा करता है, उससे भिन्न सारे ही देवता उस साधकके लिये अन्य देवता समझे जाने चाहिये।

(ग) 'माम्' शब्दसे यथार्थतः इस प्रसङ्गमें तो भगवान्‌ने अर्जुनको अपने श्रीकृष्णस्वरूपका ही आदेश दिया है, परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् राम, विष्णु आदि स्वरूपोंसे और निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न न होनेके कारण सभीका समझना चाहिये।

(२) प्र०—

(क) वेदान्त-मतमें अनन्यताका भाव **'वासुदेवः सर्वमिति'** और **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** के अनुसार एक ब्रह्मके सिवा अन्यकी सत्ता ही स्वीकार न कर सर्वत्र परमात्मा-ही-परमात्मा देखना समझमें आता है परन्तु साथ ही द्वैत-मतके 'जीव कि ईस समान' इत्यादि वचनोंसे जीव-ईश्वरका भेद प्रतीत होता है, अतः अनन्यता किसे कहते हैं?

(ख) शिव या विष्णुके उपासकोंको एक दूसरेके इष्टके प्रति मैत्री, उदासीनता या द्वेष कैसा भाव रखना चाहिये? पार्वतीके ये वचन—

महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

—से तो शैवकी विष्णुके प्रति पूर्ण उदासीनता प्रकट होती है। ऐसे ही और

भी प्रसङ्ग देखनेमें आते हैं।

(ग) गीता अध्याय १७। १४ में **'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्'** को शारीरिक तप कहा है। यहाँ कौन-सी देवपूजा अभिप्रेत है, नित्य अथवा नैमित्तिक ? इस देवपूजाका स्वरूप क्या है ?

(घ) गीताके अनुसार जिस ज्ञानद्वारा एकसे दूसरेमें भेद प्रतीत होता है, वह राजसी ज्ञान है, सात्त्विक नहीं। तो क्या द्वैतमतानुयायियोंका अनन्यभाव राजसी ज्ञानका समर्थक नहीं है ?

उ०—

(क) वेदान्तके मतानुसार उनका अनन्यताका भाव ठीक ही है और जीव-ईश्वरका भेद माननेवाले द्वैतानुयायियोंका कहना भी युक्तियुक्त ही है। परन्तु अर्जुनके प्रति गीतामें जहाँ-जहाँ अनन्य शब्द आया है, वह प्रायः भेदकी दृष्टिसे ही प्रतीत होता है। भेदोपासनाके अनुसार अनन्यताका स्वरूप केवल एक अपने स्वामीको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझकर श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर उनका स्मरण करना ही है।

(ख) शैव और वैष्णव सबको अपने-अपने इष्टके प्रति अनन्यभाव रखते हुए एक दूसरेके प्रति उदासीनता या द्वेष-भाव न रखकर अपने इष्टदेवकी आज्ञा समझकर पूज्य-भाव ही रखना चाहिये। भगवान् श्रीरामने अपने भक्तोंको शङ्कर-भजनकी आज्ञा दी है। जैसे—

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

इसलिये अपने स्वामीकी आज्ञा मानकर उनमें पूज्यभाव रखना चाहिये। पार्वतीका कहना उस जगह श्रीशिवजीसे विवाहके प्रसङ्गमें है। वैसे प्रसङ्गमें वही कहना उचित है।

(ग) गीता अध्याय १७। १४ के अनुसार देव-पूजासे शास्त्रानुसार यथाशक्ति

****

नित्य और नैमित्तिक प्राप्त देवताओंकी सभी पूजाएँ शास्त्रकी विधिके अनुसार षोडशोपचारसे करनी चाहिये।

(घ) गीताका राजस ज्ञान सब भूतोंमें पृथक्-पृथक् भाव देखनेका निर्देश करता है, परन्तु ईश्वरको पृथक् मानकर जो उपासना की जाती है उसको राजस नहीं कहता, क्योंकि* श्रीभगवान्‌ने स्वयं आज्ञा दी है—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

(गीता ९। १५)

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने तो इसकी विशेष प्रशंसा की है—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

---

* यहाँ साधक ईश्वरको एकदेशीय न मानकर सर्वव्यापक समझता है और उन्हें सब भूतोंमें व्यापक देखता हुआ ही उनकी एकदेशमें पूजा करता है; केवल अपनेको उनसे पृथक् मानता है।

भगवत्प्राप्तिके उपाय

संसारमें सबसे बढ़कर और सबसे उत्तम प्राप्त करनेयोग्य वस्तु है परमानन्द एवं परम प्रेममय परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति। किन्तु वह होती है सम्पूर्ण संसारमें अत्यन्त वैराग्य होकर भगवान्‌में अनन्य एवं विशुद्ध प्रेम होनेसे। भगवान्‌का तत्त्व जाननेसे ही भगवान्‌में अनन्य प्रेम होता है, जो भगवान्‌को तत्त्वसे जान लेता है वह फिर एक क्षण भी भगवान्‌से अलग नहीं रह सकता। उसको सदा-सर्वदा सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन होते रहते हैं। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६। ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं कभी अदृश्य नहीं होता हूँ तथा वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है' क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे स्थित है। यही परमात्माका रहस्य है, इसीको गीतामें भगवान्‌ने गुह्यतम बतलाया है—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

(९। १)

'हे अर्जुन! तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय ज्ञानको रहस्यके सहित कहूँगा कि जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा।' इसलिये यह अति दुर्लभ मनुष्यका शरीर पाकर तो भगवान्‌के प्रभाव और रहस्यको जानकर विशुद्ध प्रेमके द्वारा केवल उसकी प्राप्तिके लिये ही तत्पर होकर चेष्टा करनी चाहिये।

****

प्र०—मनुष्यका शरीर कैसे मिलता है ?

उ०—ईश्वरकी अहैतुकी दयासे।

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

कैसा भी दुराचारी एवं नास्तिक क्यों न हो, मुक्तिके लिये भगवान् उसको भी अवसर देते हैं।

प्र०—क्या इस घोर कलियुगमें भी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है ?

उ०—निश्चय हो सकती है, बल्कि और युगोंकी अपेक्षा और भी सुगमतासे।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

× × ×

सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा ॥

(तुलसीदासजी)

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम् ॥

(विष्णुपुराण ६। २। १७)

'सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञानुष्ठानसे और द्वापरमें भगवान्के पूजनसे मनुष्य जो गति प्राप्त करता है वही कलियुगमें श्रीकेशवके नाम संकीर्तन करनेसे पा लेता है।'

शमायालं जलं वह्नेस्तमसो भास्करोदयः।
शान्तिः कलौ ह्यघौघस्य नामसङ्कीर्तनं हरेः ॥

'अग्निको शान्त करनेमें जल और अन्धकारको दूर करनेमें सूर्य समर्थ है तथा कलियुगमें पापसमूहकी शान्तिका उपाय श्रीहरिका नाम-संकीर्तन है।'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

(बृ० नारद० १। ४१। १५)

'केवल श्रीहरिका नाम ही मेरा जीवन है, इसके अतिरिक्त कलियुगमें और कोई उपाय है ही नहीं।'

प्र०—भगवान्‌की प्राप्तिरूप मुक्ति प्रारब्धसे मिलती है या पुरुषार्थसे ? यदि प्रारब्धसे मिलती है तो उसके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है और यदि पुरुषार्थसे मिलती है तो उस पुरुषार्थका स्वरूप क्या है ?

उ०—परमानन्दमय परमात्माकी प्राप्तिरूप मुक्ति न प्रारब्धसे मिलती है और न केवल पुरुषार्थसे ही। मिलती है महापुरुषोंकी दयासे। जिसपर भगवान्‌की दया होती है उसीपर महापुरुषोंकी दया होती है।

जापर कृपा राम कर होई।
तापर कृपा करै सब कोई॥

इसलिये भगवान्‌की प्राप्ति भगवान्‌की ही दयासे होती है। जो पुरुष ईश्वरकी प्राप्तिको प्रारब्धसे होना मानता है वह अकर्मण्य एवं आलसी है। ऐसे प्रारब्धके भरोसेपर रहनेवाले उद्यमहीन मूढ़के सभी कर्म जघन्य (घृणित) होकर उसका पतन हो जाता है।

जो पुरुष परमात्माकी प्राप्तिको केवल अपने पुरुषार्थके बलपर ही मानता है वह भी अभिमानके फंदेमें फँसकर गिर जाता है, किन्तु जो ईश्वरकी शरण हुआ अपनेको निमित्त बनाकर उत्साहके सहित प्रसन्नचित्तसे, न उकताकर कटिबद्ध रहता हुआ, ईश्वरके बल और भरोसेपर कोशिश करता है उसीका पुरुषार्थ ईश्वरकी दयासे सिद्ध होता है।

प्र०—भगवान्‌की दया तो सभीपर समानभावसे है, फिर सबको भगवान्‌की प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

उ०—भगवान्‌की पूर्ण दया सभीपर समानभावसे है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। किन्तु जैसे कोई दरिद्री मनुष्य अपने घरमें गड़े हुए धनको न जाननेके कारण तथा अपने पासमें पड़े हुए पारसको न जाननेके कारण

लाभ नहीं उठा सकता, वैसे ही मूर्खलोग भगवान्‌को एवं भगवान्‌की दयाके रहस्यको न जाननेसे ही लाभ नहीं उठा सकते। भगवान्‌की दयाके रहस्यको समझनेसे शोक, भयका अत्यन्त अभाव होकर सदाके लिये परम शान्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जैसे कोई भयातुर मनुष्य राजाकी दयाका सहारा पाकर निर्भय और सुखी हो जाता है। भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि भगवान्‌की दयाके रहस्यको जानते थे, इसलिये वे कृतकृत्य हो गये; किन्तु अज्ञानके कारण दुर्योधनादि न हो सके।

प्र०—प्रभावसहित भगवान्‌को एवं भगवान्‌की दयाके रहस्यको जाननेके लिये सरल उपाय क्या है?

उ०—भगवान्‌की अनन्यशरण।

प्र०—अनन्यशरण किसको कहते हैं?

उ०—भगवान्‌के किये हुए प्रत्येक विधानमें प्रसन्नचित्त रहना, निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर उसके स्वरूपका चिन्तन करते हुए उसके नामका जप करना एवं उसकी आज्ञाका पालन करना, यही भगवान्‌की अनन्यशरण है।

प्र०—अनन्यशरण होनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये?

उ०—जो पुरुष भगवान्‌के प्रभाव एवं तत्त्वको जाननेवाले हैं तथा जो भगवान्‌की अनन्यशरण हो चुके हैं ऐसे प्रेमी भक्तोंका संग करके, उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे ही, मनुष्य भगवान्‌की अनन्य शरण हो सकता है।

प्र०—प्रथम तो ऐसे भक्त ही संसारमें कम हैं, इसलिये उनका मिलना भी दुर्लभ है। यदि मिल भी जायँ तो उनको पहचाना नहीं जा सकता, ऐसी

****

अवस्थामें मनुष्यको क्या करना चाहिये ?

उ०—यद्यपि ऐसे पुरुष संसारमें कम हैं, किन्तु श्रद्धा और प्रेमयुक्त मिलनेकी उत्कट इच्छा होनेसे मिल सकते हैं और पहचाननेमें भी आ सकते हैं। यदि भगवान्‌की प्राप्तिवाले पुरुष न मिलें, तो जिनके हृदयमें भगवान्‌से मिलनेकी अत्यन्त उत्कट इच्छा जाग्रत् हो गयी है और जो भगवान्‌को ही सर्वोत्तम मानकर उनका ही भजन-ध्यान करते हैं, जैसे अत्यन्त लोभी धनकी प्राप्तिके लिये तत्पर होकर चेष्टा करते हैं वैसे ही जो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही चेष्टा करते हैं तथा केवल भगवान् ही जिनको अत्यन्त प्रिय हैं उन जिज्ञासु पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये। तथा भगवान् और भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कथित सत्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं मनन करके उनके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

प्र०—भगवान् एवं भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कथित सत्-शास्त्र कौन-से हैं ?

उ०—सामान्यतासे तो सभी आर्ष-ग्रन्थ सत्-शास्त्र हैं। वेद, उपनिषद् स्वतःप्रमाण एवं भगवान्‌के श्वास होनेके कारण तथा गीता स्वयं भगवान्‌की वाणी होनेके कारण यह सब तो भगवत्-कथित ही ग्रन्थ हैं। स्मृतियाँ, दर्शनशास्त्र, रामायण, इतिहास, पुराण आदि महात्मा एवं महर्षियोंद्वारा रचे गये हैं। इसलिये ये सब भगवान्‌के भक्तोंद्वारा कथित ग्रन्थ हैं, अतएव सभी सत्-शास्त्र हैं।

प्र०—विस्तार एवं दुर्गम होनेके कारण इन सबका अभ्यास सभी मनुष्य नहीं कर सकते ? इसलिये इन सबमें सर्वोत्तम कल्याणकारक एवं सबके लिये सुगम कौन-सा शास्त्र है ?

उ०—शास्त्र सभी कल्याणकारक हैं, इसलिये शास्त्रोंका जितना अधिक अभ्यास किया जा सके उतना ही उत्तम है, परन्तु आत्माके कल्याणके लिये तो केवल एक गीताशास्त्र ही पर्याप्त है। सम्पूर्ण गीताकी तो बात

****

ही क्या, इसमें सैकड़ों श्लोक तो ऐसे हैं कि जिनमेंसे एक श्लोकके अनुसार जीवन बना लिया जाय तो भी कल्याण हो सकता है। जैसे—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(गीता ११। ५५)

'हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ, यज्ञ, दान और तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है, अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परमगति मानकर, मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठन-पाठनका प्रेमसहित, निष्कामभावसे, निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है* ऐसा वह अनन्य भक्तिवाला पुरुष मेरेको ही प्राप्त होता है।'

यह गीता स्वयं भगवान्‌के मुखसे निकली हुई है तथा शास्त्रोंका सार इसमें भरा हुआ है। इसलिये इस गीताशास्त्रको सर्वोत्तम कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी, महाभारतमें कहा भी है।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(भीष्मपर्व ४३। १)

'गीता सुगीता करनेयोग्य है अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर

---

* सर्वत्र भगवत्-बुद्धि हो जानेसे उस पुरुषका अति अपराध करनेवालेमें भी वैरभाव नहीं होता है, फिर औरोंमें तो कहना ही क्या है।

अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है। जो कि स्वयं श्रीपद्मनाभ विष्णुभगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली है, ऐसे गीताशास्त्रके रहते हुए अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ?'

इसकी संस्कृत भी बड़ी मधुर और सरल है। इसलिये जिनको थोड़ा भी संस्कृतका ज्ञान है वे भी अभ्यास करनेसे इसको समझ सकते हैं। इसका अर्थ साधारण भाषाटीकामें भी लिखा गया है, इसलिये हिन्दी जाननेवालोंके लिये भी सुगम है तथा इसका अनुवाद प्रायः सभी भाषाओंमें हो गया है। अतएव सभीके लिये सुगम और सुलभ है।

प्र०—सत्सङ्ग करनेके समय मनुष्यकी जैसी सात्त्विक वृत्तियाँ रहती हैं वैसी वृत्तियाँ निरन्तर नहीं रहतीं, इसका क्या कारण है ?

उ०—सत्-शास्त्र और सत्पुरुषोंके सङ्गके साधनकी कमी एवं विषयासक्ति और सञ्चित पापोंका समूह तथा कुसङ्ग ही इसमें प्रधान कारण है। जैसे अमावस्याकी रात्रिमें जंगलमें पड़े हुए मनुष्यके लिये प्रज्वलित दीपक, बिजली एवं अग्नि आदिकी रोशनीसे जंगलमें भी मङ्गल (उजियाला) हो जाता है और उनके अभावमें पुनः अन्धकार छा जाता है, वैसे ही रजोगुण, तमोगुणरूप रात्रिमें पड़े हुए मनुष्यके लिये सत्सङ्ग ही महाप्रकाश है। उसकी प्राप्ति होने-से हृदयमें उजियाला हो जाता है, दूर होनेसे पुनः अन्धकार छा जाता है। विषयोंका एवं नीच पुरुषोंका सङ्ग पाकर वह रजोगुण-तमोगुणमयी रात्रि, अमावस्याकी रात्रिमें आँधी आनेकी भाँति विशेष अन्धकारमय बन जाती है। इसलिये विषयोंमें आसक्ति एवं कुसङ्गका त्याग कर सत्पुरुष और सत्-शास्त्रोंका सङ्ग निरन्तर करनेके लिये चेष्टा करनी चाहिये एवं उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेकी कोशिश करनी चाहिये।

****

प्र०—सत्-शास्त्र और सत्पुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेकी इच्छा होनेपर भी सर्वथा चला नहीं जाता, इसका क्या कारण है ?

उ०—विषयोंमें आसक्ति एवं श्रद्धा-प्रेमकी कमी ही प्रधान कारण है। क्योंकि शारीरिक आरामकी बुरी आदत पड़ी हुई है, इसलिये भोग, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सांसारिक सुख प्रत्यक्ष दीखता है। परिणाम चाहे उसका कैसा भी बुरा क्यों न हो, किन्तु मूर्खताके वशमें होकर मनुष्य उसका सेवन कर लेता है। जैसे वैद्यके बतलाये हुए पथको हितकर समझता हुआ भी मूर्ख रोगी आसक्तिवश कुपथ्य कर लेता है। शास्त्र और महापुरुषोंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेमें प्रथम परिश्रम-सा मालूम देता है, यद्यपि परिणाम इसका बहुत ही उत्तम है। किन्तु पूरा विश्वास न होनेके कारण उसमें श्रद्धा और प्रेमकी कमी आ ही जाती है। इसलिये इच्छा होनेपर भी उनके अनुसार नहीं चला जाता।

प्र०—विषयोंमें आसक्तिका नाश होकर भगवान्‌में अतिशय श्रद्धा और अनन्य प्रेम होनेके लिये साधकको क्या करना चाहिये ?

उ०—भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व जाननेसे भगवान्‌में अतिशय श्रद्धा होता है तथा अतिशय श्रद्धासे अनन्य प्रेम होता है और भगवान्‌में अनन्य प्रेम होनेसे संसारके विषयभोगोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। अतएव भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व जाननेके लिये भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका उनके प्रेमी भक्तोंद्वारा एवं शास्त्रोंद्वारा श्रवण, पठन और मनन करके उनके कथनानुसार अपना जीवन बनानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार साधन करनेसे अन्तःकरण पवित्र होकर भगवान्‌के गुण और प्रभावका तत्त्व सहजमें ही जाना जा सकता है।

★

भगवान्के लिये काम कैसे किया जाय ?

प्र०—प्रसन्नतापूर्वक भगवान्का काम समझकर भगवान्को याद रखते हुए किसीसे भी राग-द्वेष न करके अपने कर्तव्यका पालन किस प्रकार किया जा सकता है ?

उ०—सब कुछ परमेश्वरका ही है, परमेश्वर खेल कर रहे हैं, परमेश्वर बाजीगर हैं, मैं उनका झमूरा हूँ, यों समझकर सब कुछ ईश्वरकी लीला समझते हुए परमेश्वरके आज्ञानुसार आसक्ति और फलकी इच्छा छोड़कर, परमेश्वरकी सेवाके लिये उन्हींकी प्रेरणा तथा शक्तिसे प्रेरित होकर कार्य करता रहे। यह समझकर बार-बार गद्गद होता रहे कि अहा ! मुझपर परमेश्वरकी कितनी अपार दया है कि मुझ-जैसे तुच्छको साथ लेकर भगवान् अपनी लीला कर रहे हैं। भगवान्के प्रेम दया, प्रभाव, स्वरूप और रहस्यपर बारम्बार विचार करता हुआ मुग्ध होता रहे।

(प्रेम) भगवान्के समान कोई प्रेमी नहीं है, वे प्रेमका इतना महत्त्व जानते हैं कि असंख्य ब्रह्माण्डके महेश्वर होते हुए भी अपनेको प्रेमीके हाथ बेच डालते हैं।

(दया) मैं कैसा नीच हूँ, कैसा निकृष्ट और महापामर हूँ, परन्तु उस परम प्रभुकी मुझपर कितनी अपार दया है कि वे मुझको साथ लेकर लीला कर रहे हैं। प्रभुने सब पाप-तापोंसे बचाकर मुझे ऐसा बना लिया है।

(प्रभाव) प्रभुके प्रभावका कौन वर्णन कर सकता है, वे चाहें तो करोड़ों ब्रह्माण्डोंको एक पलमें उत्पन्न, पालन और संहार कर सकते हैं।

(स्वरूप) सारे संसारका सौन्दर्य प्रभुके एक रोमके समान भी नहीं है।

****

वे आनन्दमूर्ति हैं। उनका दर्शन परम सुखमय है। वे चेतनमय हैं। जैसे तारके द्वारा बिजली अनेक प्रकारसे कार्य कर रही है, वैसे ही प्रभुकी शक्ति सब कुछ कर रही है। वे विज्ञानानन्दघन परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं। वही नित्य विज्ञानानन्दघन प्रभु श्रीराम-कृष्ण आदिके रूपमें अवतार लेते हैं।

(रहस्य) उनका रहस्य कौन जान सकता है। वे सबमें समाये हैं परन्तु कोई उन्हें नहीं पकड़ पाता। मर्मका नाम ही रहस्य है। भगवान् श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए, उस रूपमें बहुत लोगोंने उन्हें भगवान् नहीं समझा। कोई ग्वालबालक समझता था तो कोई वसुदेवपुत्र। जो महात्मा पुरुष उनको भगवान्‌के रूपमें जान गये, उन्हींपर उनका रहस्य प्रकट हुआ। प्रभुके रहस्यको जान लेनेपर चिन्ता, दुःख और शोकका तो कहीं नाम-निशान ही नहीं रहता। प्रभु सब जगह विराजमान हैं, इस रहस्यको जानना चाहिये। अर्जुन भगवान्‌के रहस्यको कुछ जानते थे और उनसे रथ हँकवाते थे, परन्तु वे भी भगवान्‌के विश्वरूपको देखकर भय और हर्षके मिश्रित भावोंमें डूब गये। तब भगवान्‌ने कहा—'भय मत कर !' जबतक अर्जुनको भय हुआ तबतक उन्होंने भगवान्‌के पूरे रहस्यको नहीं समझा। पहचानना तो वस्तुतः यथार्थमें प्रह्लादका था, जो भगवान् नृसिंहदेवको विकरालरूपमें देखकर भी बेधड़क उनके पास चले गये। प्रह्लादको किञ्चित् भी भय नहीं हुआ। इसी प्रकार परमात्माके रहस्यको जाननेवाला सर्वदा सर्वत्र निर्भय हो जाता है।

प्र०—जीवमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह प्रभुके रहस्यको जान सके। जब प्रभु जनाते हैं तभी जान सकता है। प्रह्लादको प्रभुने जनाया तभी तो वे भगवान्‌को जान सके। वे हमलोगोंको अपना रहस्य किस उपायसे जना सकते हैं ?

उ०—इसके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये। वे कृपा करके जना सकते हैं। परन्तु यह नियम है कि पात्र होनेसे ही प्रभु अपनेको जनाते हैं, इसलिये भगवान्‌की दयापर दृढ़ विश्वास करना चाहिये। भक्तशिरोमणि भरतजीने भी कहा था—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी।
नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।
दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई।
मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

ऐसा दृढ़ भरोसा रखनेवालेकी प्रभु सम्हाल करते हैं। अतएव प्रभुसे सच्चे दिलसे ऐसी कातर-प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ! मैं अति नीच हूँ, किसी प्रकार भी पात्र नहीं हूँ। गोपियोंकी भाँति जिसमें प्रेमका बल है, उसके हाथ तो आप स्वयं ही बिक जाते हैं। हे प्रभो! मेरे पास प्रेमका बल होता तो फिर रोने और प्रार्थना करनेकी क्या जरूरत थी! मैं जब अपने पापों और अवगुणोंकी तथा बलकी ओर देखता हूँ तो मनमें कायरता और निराशा छा जाती है; परन्तु हे नाथ! आपकी दया तो अपार है, आप दयासिन्धु हैं, पतितपावन हैं, मुझे वह बल दीजिये जिससे मैं आपके रहस्यको जान जाऊँ।'

सारे कामोंको प्रभुका काम समझना चाहिये। हम लीलामयके साथ काम कर रहे हैं। इससे प्रभुकी इच्छाके अनुसार ही चलना चाहिये। यदि आसक्ति या स्वभावदोषके कारण उनकी आज्ञाका कहीं उल्लङ्घन हो जाय तो पुनः वैसा न होनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

अपनी समझसे कोई अनुचित कार्य नहीं करना चाहिये। हमलोग किसीकी भलाईके लिये कोई कार्य कर रहे हैं और कदाचित् दैव-इच्छासे उसकी कोई हानि हो जाय तो उसमें चिन्ता या पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये।

हमको अपने कृत्यकी भूलके लिये ही पश्चात्ताप करना उचित है।

हमको सूचना मिली कि यहाँ बहुत जल्दी बाढ़ आनेवाली है, हट जाना चाहिये। इस बातको जानकर भी हम नहीं हटे और हमारा सब कुछ बह गया तो हमें पश्चात्ताप करना चाहिये। क्योंकि भगवान्‌ने हमको सचेत कर दिया था और हमने उसको माननेमें अवहेलना की। परन्तु यदि अचानक बाढ़ आकर सब डूब जाय तो चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वहाँ हमारी भूल नहीं हुई है।

एक जगह बाढ़ आयी, बीज बह गये। हमलोगोंने बोनेके लिये किसानोंको बीज दिये, फिर बाढ़ आयी और वे बीज भी बह गये। इसपर हमलोगोंको न तो शोक करना चाहिये और न यह विचार करना चाहिये कि बीज तो बह ही रहे हैं, व्यर्थ देकर क्यों नष्ट करें। हमलोगोंको तो स्वामीकी यही आज्ञा है कि बीज जहाँतक बने, उन्हें देते रहो। अतः हमको तो प्रभुके आज्ञानुसार ही करना चाहिये। उसमें कोई कसर नहीं रखनी चाहिये। प्रभु अपनी इच्छानुसार करें। सेवकको तो प्रभुका काम करके हर्षित होना चाहिये और मुस्तैदीसे अपने कर्तव्य-पथपर डटे रहना चाहिये।

रोगी कुपथ्य कर ही लिया करते हैं। इसमें अपना क्या वश है। कुपथ्य करनेपर सद्वैद्य रोगीको धमका तो देता है परन्तु नाराज नहीं होता। वह समझता है कि मेरी पाँच बातोंमेंसे तीन तो इसने मान लीं। दोके लिये फिर चेष्टा करेंगे। वैद्य बारंबार चेष्टा करता है, जिससे वह कुपथ्य न करे। परन्तु चेष्टा करनेपर भी उसका हित न हो तो वैद्यको उकतानेकी जरूरत नहीं है। न क्रोध ही करनेकी आवश्यकता है। फलको भगवान्‌की इच्छापर छोड़ देना चाहिये और बिना उकताये प्रभुकी लीलामें उनके इच्छानुसार लगे रहना चाहिये।

★

ईश्वर और परलोक

ईश्वर, माया, जीव, सृष्टि, कर्म, मोक्ष, और परलोक आदिके विषयमें कतिपय मित्रोंके प्रश्न हैं। प्रश्न बड़े गहन और तात्त्विक हैं। इन प्रश्नोंका वास्तविक उत्तर तो परमेश्वर ही जानते हैं तथा वे महान् पुरुष भी जानते हैं जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हैं। मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये तो इन प्रश्नोंका उत्तर देना महान् ही कठिन है तथापि मित्रोंके अनुरोध करनेपर अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार मैं अपने भावोंको प्रकट करता हूँ। त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

प्र०—ईश्वर है या नहीं ?

उ०—ईश्वर निश्चय ही है।

प्र०—ईश्वरके होनेमें क्या प्रमाण है ?

उ०—ईश्वर स्वतः प्रमाण है। इसके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता ही नहीं है। सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि भी उसीकी सत्ता-स्फूर्तिसे होती है। तुम्हारा प्रश्न भी ईश्वरको सिद्ध करता है; क्योंकि मिथ्या वस्तुके विषयमें तो प्रश्न ही नहीं बनता जैसे 'वन्ध्यापुत्र है या नहीं'—यह प्रश्न नहीं बनता।

प्र०—सन्दिग्धतामें भी प्रश्न बन सकता है। और मुझे शङ्का है इसलिये ईश्वरके विषयमें आप प्रमाण बतावें ?

उ०—यद्यपि ईश्वरकी सिद्धिसे ही हम सबकी सिद्धि है इसलिये प्रमाणों-द्वारा ईश्वरको सिद्ध करनेका प्रयत्न लड़कपन ही है तथापि सन्दिग्ध मनुष्योंकी शङ्का-निवृत्तिके लिये श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणादि शास्त्र ईश्वरकी सत्ताको स्थल-स्थलपर घोषित कर रहे हैं। ईश्वरको जाननेके लिये ही उन सबकी व्युत्पत्ति है।

****

यथा—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'

(गीता १५। १५)

'ईशावास्यमिदँ् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।'

(यजुर्वेद ४० ।१)

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

(योग० १। २३)

'आत्मा द्विविध आत्मा परमात्मा च'

(तर्कसंग्रह)

प्रमाणोंका विशेष विस्तार 'कल्याण' के 'ईश्वराङ्क' में देखना चाहिये।

प्र०—क्या आप युक्तियोंद्वारा भी ईश्वर-सिद्धि कर सकते हैं ?

उ०—यद्यपि जिस ईश्वरसे सब युक्तियोंकी सिद्धि होती है, उस ईश्वरको युक्तियोंद्वारा सिद्ध करना अनधिकार चेष्टा है तथापि संशययुक्त एवं नास्तिकोंको समझनेके लिये विभिन्न सज्जनोंने 'कल्याण' के ईश्वराङ्क और उसके परिशिष्टाङ्कमें बहुत-सी युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि पदार्थोंकी उत्पत्ति और नाना प्रकारकी योनियोंके यन्त्रोंकी भिन्न-भिन्न अद्भुत रचना और नियमित सञ्चालन-क्रियाको देखनेसे यह सिद्ध होता है कि बिना कर्ताके उत्पत्ति और बिना सञ्चालकके नियमित सञ्चालन होना असम्भव है। जो इनकी उत्पत्ति और सञ्चालन करनेवाला है, वही ईश्वर है। जीवोंके सुख, दुःख, जाति, आयु, स्वभावकी भिन्नताका गुण कर्मानुसार यथायोग्य विभाग करना ज्ञानस्वरूप ईश्वरके बिना जड प्रकृतिसे होना सम्भव नहीं है क्योंकि सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना एवं विभाग किसी परम चेतन कर्ताके बिना होना सम्भव नहीं है।

****

प्र०—ईश्वरका स्वरूप कैसा है ?

उ०—ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण गुण-सम्पन्न, निर्विकार, अनन्त, नित्य, विज्ञान-आनन्दघन है।

प्र०—ईश्वर सगुण है या निर्गुण ?

उ०—वह चिन्मय परमात्मा सगुण भी है और निर्गुण भी। यह त्रिगुणमय सम्पूर्ण संसार उस परमात्माके किसी एक अंशमें है, जिस अंशमें यह संसार है उस अंशका नाम सगुण है, और संसारसे रहित अनन्त असीम जो नित्य विज्ञान आनन्दघन परमात्माका स्वरूप है उसका नाम निर्गुण है। सगुण और निर्गुण समग्रको ही ईश्वर कहा गया है।

प्र०—वह सगुण ईश्वर निराकार है या साकार ?

उ०—साकार भी है और निराकार भी। जैसे निराकाररूपसे व्यापक अग्नि संघर्षण आदि साधनोंद्वारा साधकके सम्मुख प्रकट हो जाता है वैसे ही सर्वान्तर्यामी दयालु परमात्मा निराकाररूपसे चराचर सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें व्यापक रहता हुआ ही धर्मके स्थापन और जीवोंके उद्धारके लिये भक्तोंकी भावनाके अनुसार भी श्रद्धा, भक्ति, प्रेम आदि साधनोंद्वारा साकाररूपसे समय-समय प्रकट होता है। जहाँ साकाररूपसे भगवान् प्रकट हुए हों वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि वे इतने ही हैं, निर्गुण और सगुणरूपमें सब जगह स्थित रहता हुआ ही अर्थात् सम्पूर्ण शक्तिसम्पन्न समग्र ब्रह्म ही सगुण-साकार-स्वरूपमें प्रकट होता है। वह सगुण परमात्मा सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाशकालमें सदा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपसे विराजमान है।

प्र०—माया किसे कहते हैं ?

उ०—ईश्वरकी शक्तिका नाम माया है जिसको प्रकृति भी कहते हैं।

प्र०—प्रकृतिका क्या स्वरूप है ?

उ०—जो अनादि हो (प्राकृत हो), जिसकी किसीसे उत्पत्ति नहीं हुई हो और

****

जो अन्य पदार्थोंकी उत्पत्तिमें कारण हो, उसको प्रकृति कहते हैं।

प्र०—यह माया स्वतन्त्र है या परतन्त्र?

उ०—परतन्त्र है।

प्र०—किसके परतन्त्र है?

उ०—ईश्वरके।

प्र०—यह माया अनादि-अनन्त है या अनादि-सान्त है?

उ०—अनादि-सान्त है।

प्र०—जो वस्तु अनादि हो वह तो अनन्त ही होनी चाहिये?

उ०—यह कोई नियम नहीं है।

प्र०—ऐसा कोई दृष्टान्त बतलाइये जो अनादि होकर सान्त हो?

उ०—सूर्य-चन्द्रादि सभी दृश्य वस्तुओंका अज्ञान अर्थात् उनका न जाननापन अनादि है, किन्तु मनुष्य जिस समाज जिस वस्तुको यथार्थ जान जाता है उसी समय उस वस्तु-विषयका वह अज्ञान नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार यह माया भी अज्ञानकी तरह अनादि-सान्त है।

प्र०—यह माया सत् है या असत्?

उ०—सत् भी है और असत् भी। अनादि होनेसे सत् है और सान्त होनेसे असत् है। वास्तवमें इसको सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तत्त्वज्ञानके द्वारा सान्त हो जानेके कारण सत् नहीं कहा जा सकता और सदासे इसकी प्रतीति होती चली आयी है इसलिये असत् भी नहीं कह सकते। इसीलिये मायाको सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहा गया है।

प्र०—माया जड है या चेतन?

उ०—जड है, क्योंकि जो वस्तु दृश्य और विकारी होती है वह जड ही होती है।

प्र०—मायाका स्वरूप क्या है?

****

उ०—जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है वह सब मायाका कार्य होनेके कारण मायाका स्वरूप है।

प्र०—माया कितने प्रकारकी है ?

उ०—दो प्रकारकी है। विद्या और अविद्या।

प्र०—विद्या किसे कहते हैं।

उ०—जिसके द्वारा ईश्वर सृष्टिकी रचना करते हैं और गुणकर्मोंके अनुसार यथायोग्य ऊँच-नीच योनियोंका विभाग करते हैं तथा साकाररूपसे प्रकट होकर जिस विद्याके द्वारा धर्मकी स्थापना करके जीवोंका उद्धार करते हैं।

प्र०—अविद्या किसे कहते हैं ?

उ०—अज्ञानको कहते हैं, जिसके द्वारा सब जीव मोहित हो रहे हैं अर्थात् अपने स्वरूप और कर्तव्यको भूले हुए हैं।

प्र०—जीवका स्वरूप क्या है ?

उ०—जीव नित्य आनन्द चेतन (द्रष्टा) और ईश्वरका अंश है। प्रकृति और उसके कार्यसे भिन्न एवं अत्यन्त विलक्षण होनेपर भी प्रकृतिके सम्बन्धसे कर्ता और भोक्ता भी है (देखिये गीता अ० १३ श्लो० २०,२१)

प्र०—जीव ईश्वरका किस प्रकारका अंश है ?

उ०—वास्तवमें तो इसके सदृश संसारमें कोई उदाहरण ही नहीं है। यदि सूर्यके प्रतिबिम्बकी तरह जीवको ईश्वरका अंश बताया जाय तो वह बताना युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि सूर्यमण्डल जड है और उसका प्रतिबिम्बी वस्तुतः कोई वस्तु नहीं है। परन्तु जीवात्मा तो वस्तुतः नित्य और चेतन है। यदि घटाकाश और महाकाशका उदाहरण दिया जाय तो वह भी समीचीन नहीं, क्योंकि आकाश भी जड है और ईश्वर चेतन है। यदि स्वप्नकी सृष्टिके जीवोंका उदाहरण दिया जाय तो वह भी पूर्ण समीचीनरूपसे नहीं, क्योंकि स्वप्नसृष्टिकी उत्पत्ति स्वप्न-द्रष्टा पुरुषके

****

मोहसे हुई है और वह पुरुष उस मोहके अधीन है परन्तु ईश्वर स्वतन्त्र और निर्भ्रान्त है। ऊपर बताये हुए सब उदाहरणोंकी अपेक्षा तो योगीकी सृष्टिका उदाहरण सर्वोत्तम है, क्योंकि योगी अपनी योग-शक्तिसे अपनी सृष्टिकी रचना कर सकता है और उसकी सृष्टिमें रचित जीव सब उसके अंश एवं अधीन भी होते हैं, इसी प्रकार जीवको ईश्वरका अंश समझना चाहिये।

प्र०—सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

उ०—शास्त्रोंमें जैसा वर्णन है।

प्र०—शास्त्रोंमें तो अनेक प्रकारका वर्णन है।

उ०—विचार करनेपर करीब-करीब सबका परिणाम एक-सा ही निकलता है।

प्र०—महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है, संक्षेपसे व्याख्या कीजिये।

उ०—महासर्गके आदिके समय सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन निराकार परमात्मामें सृष्टिके रचनेके लिये स्वाभाविक ऐसी स्फुरणा होती है कि 'मैं एक बहुत रूपोंमें होऊँ' तब उसकी शक्तिरूप प्रकृतिमें क्षोभ होता है अर्थात् सत्, रज, तम—तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें न्यूनाधिकता हो जाती है जिससे महत्तत्त्व यानी समष्टि-बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। उस महत्तत्त्वसे समष्टि अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकारसे मन और पाँच सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन महाभूतोंको योग और सांख्य आदि शास्त्रोंमें तन्मात्राओंके नामसे कहा है। वैशेषिक और न्यायशास्त्र इन्हींको परमाणु मानते हैं। उपनिषदोंमें इन्हींको अर्थके नामसे भी कहा है और इन्द्रियोंके कारणरूप होनेसे इन्द्रियोंसे परे बतलाया है। गीतामें इन पाँच सूक्ष्म महाभूतोंको मन, बुद्धि और अहंकारके सहित अपरा प्रकृतिके नामसे कहा है। मूल-प्रकृतिसे उत्पन्न हुए इन आठ पदार्थोंसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है। इसलिये इनको भी प्रकृति कहा जाता है। सांख्य और योगशास्त्र मनको प्रकृति नहीं मानते।

प्र०—सूक्ष्म महाभूतोंकी उत्पत्तिका क्रम बतलाइये ?

उ०—समष्टि अहंकारसे सूक्ष्म आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथ्वीकी तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं।

प्र०—इन आठ पदार्थोंकी उत्पत्तिके बाद सृष्टिकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई ?

उ०—आकाशादि सूक्ष्म महाभूतोंसे अर्थात् तन्मात्राओंसे श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण—क्रमशः इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई। तदनन्तर उन्हीं पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा—क्रमशः इन पाँच कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई। ऊपर बताये हुए अठारह तत्त्वोंमें अहंकारको बुद्धिके अन्तर्गत मानकर इन सतरह तत्त्वोंके समुदायको समष्टि-सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इसका जो अधिष्ठाता है उसीको हिरण्यगर्भ सूत्रात्मा एवं ब्रह्मा कहते हैं। उसी हिरण्यगर्भके द्वारा उसके समष्टि-अव्यक्त-शरीरसे जीवोंके गुण और कर्मानुसार सम्पूर्ण स्थूल लोकोंकी एवं स्थूल शरीरोंकी उत्पत्ति होती है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

(गीता ८। १८-१९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्तनामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं और वह ही भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है।'

कोई-कोई आचार्य पाँच सूक्ष्म भूतोंको इन्द्रियोंके अन्तर्गत मानकर पञ्चप्राणोंको सूक्ष्म शरीरके साथ और सम्मिलित करते हैं किन्तु वायुके

अन्तर्गत भी पञ्चप्राणोंको मान लिया जा सकता है।

प्र०—कर्म कितने प्रकारके होते हैं ?

उ०—तीन प्रकारके होते हैं—सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

प्र०—इन तीनोंका स्वरूप बतलाइये ?

उ०—(१) अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके किये हुए सुकृत-दुष्कृतरूप कर्मोंके संस्कार समूह, जो अन्तःकरणमें संगृहीत हैं उन्हें सञ्चित कहते हैं।

(२) पाप-पुण्यरूप सञ्चितका कुछ अंश जो किसी एक जन्ममें सुख-दुःखरूप फल भुगतानेके लिये सम्मुख हुआ है उसका नाम प्रारब्ध-कर्म है।

(३) अपनी इच्छासे जो शुभाशुभ नवीन कर्म किये जाते हैं उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं।

प्र०—मोक्ष किसे कहते हैं ?

उ०—सम्पूर्ण दुःखों और क्लेशोंसे* एवं सम्पूर्ण कर्मोंसे छूटकर नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित होनेका नाम मोक्ष है।

प्र०—मुक्त हुए पुरुषोंका पुनर्जन्म होता है या नहीं ?

उ०—नहीं।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

(गीता १४।२)

'हे अर्जुन! वे पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते।'

भगवान् कहते हैं—

---

* 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पञ्च क्लेशाः।' (योगसूत्र २।३) अर्थात् अज्ञान, अहंता (चिद्जडग्रन्थि) राग, द्वेष और मरणभय—ये पाँच क्लेश हैं।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

(गीता ८ । १६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।'

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥

(छान्दोग्य० ४ । १५ । १)

'वह मुक्त पुरुष पुनः वापिस नहीं आता, पुनः वापिस नहीं आता।'

प्र०—नवीन जीव उत्पन्न होते हैं या नहीं ?

उ०—नहीं। क्योंकि बिना हेतु जीवोंकी नवीन सृष्टि होना युक्तिसङ्गत नहीं।

प्र०—इस तरह माननेसे फिर जीवोंकी संख्या कम हो जायगी।

उ०—हो जाय, इसमें क्या आपत्ति है ?

प्र०—इस न्यायसे तो सभीकी मुक्ति सम्भव है।

उ०—ठीक है, किन्तु मोक्षका अधिकारी केवल मनुष्य ही है। मनुष्योंमें भी लाखों-करोड़ोंमें किसी एककी ही मुक्ति होती है। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(गीता ७ । ३)

'हे अर्जुन ! हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।' इसलिये सभीका मुक्त हो जाना असम्भव-सा है।

प्र०—असम्भव-सा होनेपर भी न्यायसे किसी-न-किसी दिन सबकी मुक्ति हो तो सकती है, क्योंकि इसमें तो कोई रुकावट नहीं है ?

उ०—रुकावटकी क्या आवश्यकता है ? तथा न्याय भी नहीं है, क्योंकि सभीका समान अधिकार है।

प्र०—तब तो एक दिन सृष्टिकी समाप्ति भी हो सकती है ?

****

उ०—ऐसा होना असम्भव-सा है, क्योंकि जीव असंख्य हैं, तथापि सब जीवोंका मोक्ष हो भी जाय तो इसमें क्या आपत्ति है ?

प्र०—यदि ऐसा न्याय होता तो अबसे पहले ही सृष्टि समाप्त हो जानी चाहिये थी ?

उ०—नहीं भी हुई तो सिद्धान्तमें क्या हानि है ?

प्र०—इस सिद्धान्तसे सृष्टिकी समाप्ति हो तो सकती है ?

उ०—ठीक है, यदि हो जाय तो बहुत ही उत्तम है। इसीलिये महान् पुरुष सबके कल्याणके लिये कोशिश करते हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

'सभी सुखी तथा सभी नीरोग होवें, सभी कल्याणका अनुभव करें, कोई भी जीव दुःखभागी न बनें अर्थात् दुखी न हों।'

प्र०—यदि मुक्तिको प्राप्त जीव वापिस आता है यह बात मान ली जाय तो क्या हानि है ?

उ०—इस प्रकार माननेवालेकी नित्यमुक्ति नहीं होती क्योंकि वापिस आनेकी भावना रहनेसे साधक सदाके लिये मुक्त नहीं हो सकता।

प्र०—मुक्ति कितने प्रकारकी होती है ?

उ०—दो प्रकारकी। एक सद्योमुक्ति, दूसरी क्रममुक्ति। विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप हो जाना सद्योमुक्ति है और अर्चि-मार्गके द्वारा परमात्माके धामविशेषमें जाना क्रममुक्ति है।

प्र०—क्रममुक्ति कितने प्रकारकी है ?

उ०—चार प्रकारकी है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य।

(क) नित्यधाममें जाकर वास करना सालोक्यमुक्ति है।

(ख) सगुण भगवान्के समीप रहना सामीप्यमुक्ति है।

(ग) भगवान्के सदृश स्वरूप धारणकर रहना सारूप्यमुक्ति है।

(घ) सगुण भगवान्‌में लय हो जाना सायुज्यमुक्ति है।

प्र०—मुक्तिका उपाय क्या है?

उ०—तत्त्वज्ञान।

प्र०—तत्त्वज्ञान किसे कहते हैं?

उ०—परमात्माको यथार्थरूपसे जैसा है वैसा ही जाननेका नाम तत्त्वज्ञान है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८।५५)

'हे अर्जुन! उस परा भक्तिके द्वारा मेरेको तत्त्वसे भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाववाला हूँ तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रवेश हो जाता है।'

प्र०—तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके अनेक साधन शास्त्रोंमें वर्णित हैं उनमें सच्चा मार्ग कौन-सा है?

उ०—सभी सच्चे हैं।

प्र०—प्रधानतया कितने मार्ग हैं?

उ०—तीन उपाय प्रधान हैं। भक्तियोग, सांख्योग और निष्काम कर्मयोग।

यथा—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

(गीता १३।२४)

'हे अर्जुन! परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानयोगके द्वारा यानी भक्तियोगके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं और अपर कितने ही निष्काम कर्मयोगके

****

द्वारा देखते हैं।'

प्र०—भक्तियोग किसे कहते हैं ?

उ०—परमेश्वरके स्वरूपको निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेका नाम भक्तियोग है।

प्र०—वह चिन्तन विज्ञान-आनन्दघन निर्गुण ब्रह्मका करना चाहिये या सगुणका ?

उ०—वास्तवमें तो निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन हो ही नहीं सकता, सगुणका ही होता है, किन्तु निर्गुणकी भावनासे उस विज्ञान-आनन्दघन निराकार ब्रह्मका जो चिन्तन किया जाता है वह निर्गुणका ही समझा जाता है।

प्र०—सगुण ब्रह्मका ध्यान साकारका करना चाहिये या निराकारका ?

उ०—साधककी इच्छापर निर्भर है। निराकारका करे या साकारका करे, किन्तु निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर करना ही शीघ्र लाभदायक होता है।

प्र०—सांख्ययोग किसका नाम है ?

उ०—मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं—ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमानन्दमें एकीभावसे नित्य स्थित रहनेका नाम सांख्ययोग है।

प्र०—निष्काम कर्मयोगका क्या स्वरूप है ?

उ०—फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है। यह दो प्रकारका होता है, एक भक्तिप्रधान, दूसरा कर्मप्रधान।

प्र०—भक्तिप्रधानका क्या लक्षण है ?

उ०—निष्काम प्रेमभावसे हर समय भगवान्‌का चिन्तन करते हुए भगवत्-आज्ञानुसार केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही कर्म करनेका नाम

भक्ति-प्रधान निष्काम कर्मयोग है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

(गीता १८। ५७)

'हे अर्जुन! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्व-बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्ब करके निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो।'

प्र०—कर्मप्रधानका क्या स्वरूप है?

उ०—कर्मप्रधानमें भी भक्ति रहती है किन्तु वह सामान्य भावसे रहती है। फल और आसक्तिको त्याग कर भगवदाज्ञानुसार समत्व बुद्धिसे कर्म करनेका नाम कर्मप्रधान निष्काम कर्मयोग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २। ४८)

'हे धनञ्जय! आसक्तिको त्याग कर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर। यह समत्व भाव ही योग नामसे कहा जाता है।'

प्र०—परलोक है या नहीं?

उ०—अवश्य है।

प्र०—क्या प्रमाण है?

उ०—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण स्थल-स्थलमें घोषित कर रहे हैं।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

(क० उ० १। २। ६)

'जो धनके मोहसे मोहित हो रहा है, ऐसे प्रमादी, मूढ़, अविवेकी पुरुषको परलोकमें श्रद्धा नहीं होती। यह लोक ही है परलोक नहीं है इस प्रकार माननेवाला वह मूढ़ मुझ मृत्युके वशमें बार-बार पड़ता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(गीता १४।१८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं, इत्यादि शास्त्रोंमें कर्मानुसार परलोककी प्राप्तिके जगह-जगह प्रमाण मिलते हैं किन्तु लेखका कलेवर बढ़ जानेके संकोचसे तथा यह बात प्रसिद्ध ही है, इसलिये शास्त्रोंके विशेष प्रमाणोंका उल्लेख नहीं किया गया।

प्र०—युक्तिप्रमाण दीजिये।

उ०—प्राणियोंके गुण, कर्म, स्वभाव, जाति, आयु, सुख, दुःखादि भोगोंकी परस्पर भिन्नता देखनेसे भूत और भविष्यत्-जन्मकी सिद्धि होती है।

(क) बालक जन्मते ही रोता है, जन्मनेके बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है, जब माता मुखमें स्तन देती है तब दूधको खींचता है और भयसे काँपता हुआ भी नजर आता है इत्यादि—उस बालकके आचरण पूर्वजन्मका लक्ष्य कराते हैं। क्योंकि इस जन्ममें तो उसने उपर्युक्त शिक्षाएँ प्राप्त की नहीं। पूर्वजन्मके अभ्याससे ही यह सब बातें उसमें स्वाभाविक ही प्रतीत होती हैं।

(ख) एक ही कालमें कोई मनुष्य, कोई पशु, कोई कीट, कोई पतंग

इत्यादि योनियोंमें जन्म लेते हैं, उनमें भी गुण, कर्म, स्वभाव, आयु, सुख-दुःखादि भोग समान नहीं देखे जाते।

(ग) एक देश और एक जातिमें पैदा हुए बालकोंमें भी स्वभाव, आचरण, आयु, सुख-दुःखादि भोग एकके दूसरेकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं, जैसे एक माताके एक साथ पैदा हुए दो बालकोंमें।

—इत्यादि युक्तियोंसे पूर्व-जन्मकी सिद्धि होती है और पूर्व-जन्मके लिये यह जन्म परलोक है, इससे परलोककी सिद्धि हो चुकी। जबतक इस पुरुषको ज्ञान न होगा तबतक इसी प्रकार गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार भावी जन्म होते रहेंगे।

प्र०—परलोक न माननेसे क्या हानि है?

उ०—पशुओंकी अपेक्षा भी अधिक उच्छृङ्खलता आ जायगी औ उच्छृङ्खल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसा आदि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है जिसके परिणाममें वह महान् दुखी बन जाता है।

प्र०—परलोकको माननेसे लाभ क्या है?

उ०—परलोक सत्य है, और सत्य बातको सत्य माननेमें ही कल्याण है, क्योंकि आत्मा नित्य है, शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता (गीता २। २०) इसलिये इस जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल अगले जन्ममें अवश्य ही भोगना पड़ता है। जब वास्तवमें इस प्रकारका निश्चय हो जायगा तब मनुष्य जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिके दुःखोंसे छूटनेके लिये निष्कामभावसे यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि उत्तम कर्मोंके तथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि ईश्वरकी उपासनाके द्वारा सम्पूर्ण दुराचार, दुर्गुण एवं दुःखोंसे मुक्त होकर उस विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जायगा, इसलिये परलोकको अवश्यमेव मानना चाहिये।

ईश्वर-तत्त्व

०—सर्वज्ञ, सर्वेश, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी आदि शब्दोंसे जिस ईश्वरका संकेत किया जाता है वह ईश्वर किसका ज्ञाता, ईश और अन्तर्यामी आदि है? जिसका ज्ञाता ईश आदि है, उसका नामरूप क्या है? वह उससे भिन्न है या नहीं?

०—विज्ञानानन्द ब्रह्म अनादि और अनन्त है, उसके किसी एक अंशमें त्रिगुणमयी मायासहित जड-चेतनमय यह समस्त संसार है। ब्रह्मके जिस अंशमें यह संसार है, उस अंशको सगुण ब्रह्म और जिस अंशमें संसार नहीं है उसको निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। उस सगुण ब्रह्मको ही सर्वज्ञ, सर्वेश, सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी आदि शब्दोंसे सङ्केत किया जाता है। वही इस मायासहित जड-चेतन सम्पूर्ण संसारका ज्ञाता, ईश और अन्तर्यामी है; उसीके सकाशसे मन मनन करता है, बुद्धि निश्चय करती है और सम्पूर्ण संसार प्रकाशित होता है। वह अनन्त है, अपार है, अनादि है, अचल है, ध्रुव है, नित्य है, सत्य और आनन्दमय है।

माया जड और विकारी है, मायाको ही प्रकृति कहते हैं। यह प्रकृति परमेश्वरकी शक्ति है और उसीके अधीन है। इसके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। जिसके द्वारा सत्-असत् समस्त वस्तुएँ यथार्थरूपसे जाननेमें आती हैं उस ज्ञानशक्तिका नाम विद्या है; और जिसके द्वारा आवृत हुए सारे जीव मोहित हो रहे हैं उसका नाम अविद्या है। इस अविद्याका नाश उपर्युक्त विद्यासे ही होता है। चौबीस तत्त्वोंमें विभक्त हुआ जड संसार प्रकृतिका ही विस्तार या कार्य (विकार) है। मूल-प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे

अहंकार और अहंकारसे पञ्चतन्मात्राओंकी उत्पत्ति होती है; फिर अहंकारसे मन और पञ्चतन्मात्राओंसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच स्थूल महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है।* इस प्रकार मूलप्रकृतिसहित चौबीस तत्त्व माने गये हैं।

मायाके द्वारा आवृत्त हुए व्यष्टि चेतनको जीव कहते हैं। ये जीव मायाके सम्बन्धसे नाना और असंख्य हैं। परमेश्वरका अंश होनेपर भी मायाके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण इसकी जीव-संज्ञा मानी गयी है। और मायाका यह सम्बन्ध अनादि एवं सान्त है। उस मायाके अविद्या अंश यानी अज्ञानसे जीव मोहित है। विद्याके द्वारा अविद्याका नाश होनेसे जीव परमात्माको प्राप्त हो जाता है और जैसे ईंधनको जलाकर अग्नि स्वयं शान्त हो जाता है वैसे ही अविद्या या अज्ञानका नाश करके विद्या या ज्ञान भी शान्त होता है। तब मायासे रहित जीव केवल अवस्थाको अर्थात् सच्चिदानन्दघन परमात्मामें तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है।

जीव-समुदायके भी दो भेद हैं—स्थावर और जंगम। देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि चलनेवाले जीवोंको जंगम एवं वृक्ष, लता, पर्वत आदि स्थिर रहनेवाले जीवोंको स्थावर कहा गया है।

इस जड-चेतनमय संसारसे परमेश्वर भिन्न भी है और अभिन्न भी। जैसे पुरुषसे स्वप्नकी सृष्टि है और आकाशसे वायु। वायुकी उत्पत्ति आकाशसे होती है और उसका आधार भी आकाश है। आकाशसे उत्पन्न होनेके कारण वायु उससे अभिन्न है; और आकाशमें आकाशसे अलग होकर रहती हुई प्रतीत होनेसे उससे भिन्न भी है। इसी प्रकार जिस

---

* श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और नासिका—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है। हाथ, पैर, मुख, गुदा और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धतन्मात्रा—ये पञ्चतन्मात्राएँ हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पञ्च महाभूत हैं।

पुरुषको स्वप्न आता है, उसीसे स्वप्नसृष्टिकी उत्पत्ति होती है और वही उस स्वप्नके संसारका आधार है। पुरुषसे ही उत्पन्न होनेसे स्वप्न उससे अभिन्न है और स्वप्न-कालमें पृथक् प्रतीत होनेके कारण भिन्न भी है। इसी तरह सगुण ब्रह्म परमेश्वर अभिन्न निमित्तोपादान-कारण होते हुए ही भिन्न और अभिन्न है तथा वही ईश, ज्ञाता, व्यापक और अन्तर्यामी है। जीवको स्वप्न-सृष्टिकी प्रतीति मोहसे होती है और ईश्वरको सृष्टिकी प्रतीति अपनी योगशक्ति या लीलासे होती है। ईश्वर स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र है।

प्र०—आवरण या बन्धन है या नहीं ? यदि है तो किसको है ? और वह स्वाभाविक है या आगन्तुक ? यदि स्वाभाविक है तो उससे मुक्ति कैसी और आगन्तुक है तो फिर भी हो सकता है ? आवरण किसको कहते हैं और वह आवरण किसको है ?

उ०—आवरण या बन्धन है भी और नहीं भी है। जिसको संसार भिन्नरूपसे प्रतीत होता है उसको बन्धन है और जिसको नहीं होता उसको नहीं है। यह बन्धन न स्वाभाविक है और न आगन्तुक, परन्तु अनादि सान्त है। आवरण या बन्धन अज्ञान या अविद्याको कहते हैं। यह आवरण मायामोहित जीवको है। इसलिये इस बन्धनसे छूटनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। बन्धनसे छूटनेका उपाय है तत्त्वज्ञान, जो सांख्ययोग, भक्तियोग, निष्कामकर्मयोग आदि साधनोंसे प्राप्त होता है।

प्र०—पूजा कौन करता है और किसकी करता है ? ब्रह्म देश, काल, निमित्तके परे है या नहीं ? यदि नहीं तो वह बद्ध है, और यदि हाँ तो वह असाध्य है। वह पूजा कैसी और उससे क्या लाभ ?

उ०—पूजा जीव करता है और परमेश्वरकी करता है। ब्रह्म देश, काल, निमित्त-से परे भी है और अंदर भी है। क्योंकि देश, काल, निमित्त आदि सब उस ब्रह्मके किसी अंशमें हैं और उसीके अधीन हैं, अतएव वह उनसे बद्ध नहीं है। उसकी पूजा आदि अवश्य करनी चाहिये। पूजाके दो प्रकार हैं—

(क) सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सम्पूर्ण चराचर जीवोंका आत्मा है इसलिये सम्पूर्ण चराचर जीवोंको परमेश्वरका स्वरूप समझ फलासक्तिको त्याग कर, निष्कामप्रेमभावसे, अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार, कर्मोंद्वारा उनका सेवा-सत्कार करना उस सर्वव्यापी निराकार ब्रह्मकी पूजा है। भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

'जिस परमात्मासे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होता है।'

(ख) अपने-अपने भाव और रुचिके अनुसार उसी सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माकी, शिव, विष्णु आदि किसी भी एककी मानसिक या पार्थिव-प्रतिमाको निमित्त बनाकर, उस परमेश्वरके प्रभावको समझते हुए श्रद्धा और प्रेमभावसे शास्त्रविधिके अनुसार, पत्र-पुष्पादिसे उसकी अर्चना करना साकार परमेश्वरकी पूजा है (गीता ९।२६)।

इस प्रकार पूजा करनेसे मनुष्य इस दुःखरूप संसार-बन्धनसे सदाके लिये छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है ?

प्रत्येक मनुष्यको विचार करना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ' और 'मेरा क्या कर्तव्य है ?' मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन या बुद्धि हूँ या इनसे कोई भिन्न वस्तु हूँ ? विचारपूर्वक निर्णय करनेसे यही बात ठहरती है कि मैं नाम नहीं हूँ, मुझे आज जयदयाल कहते हैं परन्तु जब प्रसव हुआ था उस समय इसका नाम जयदयाल नहीं था। यद्यपि मैं मौजूद था। घरवालोंने कुछ दिन बाद नामकरण किया। उन्होंने उस समय जयदयाल नाम न रखकर महादयाल रखा होता तो आज मैं महादयाल कहलाता और अपनेको महादयाल ही समझता ! मैं न पूर्वजन्ममें जयदयाल था, न गर्भमें जयदयाल था और न शरीरनाशके बाद जयदयाल रहूँगा। यह तो केवल घरवालोंका निर्देश किया हुआ साङ्केतिक नाम है। यह नाम एक ऐसा कल्पित है कि जो चाहे जब बदला जा सकता है, और उसीमें उसका अभिमान हो जाता है। जो विवेकवान् पुरुष इस रहस्यको समझ लेता है कि मैं नाम नहीं हूँ, वह नामकी निन्दा-स्तुतिसे कदापि सुखी-दुःखी नहीं होता। जब वह मनुष्य 'नाम' की निन्दा-स्तुतिमें सम नहीं है, निन्दा-स्तुतिसे सुखी-दुःखी होता है तब वह नाम न होनेपर भी 'नाम' बना बैठा है, जो सर्वथा भ्रमपूर्ण है। जो इस रहस्यको जान लेता है उसमें इस भ्रमकी गन्धमात्र भी नहीं रहती। इसीलिये श्रीभगवान्ने तत्त्ववेत्ता पुरुषोंके लक्षणोंको बतलाते हुए उन्हें निन्दा और स्तुतिमें सम बतलाया है—

'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी' (गीता १२ । १९)

'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' (गीता १४ । २४)

फिर यह प्रसिद्ध भी है कि जयदयाल 'मेरा' नाम है 'मैं' जयदयाल नहीं हूँ। इससे यह सिद्ध हुआ कि नाम 'मैं' नहीं हूँ।

इसी प्रकार रूप—देह भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि देह जड है और मैं चेतन हूँ, देह क्षय, वृद्धि, उत्पत्ति और विनाशधर्मवाला है, मैं इनसे सर्वथा रहित हूँ।

बालकपनमें देहका और ही स्वरूप था, युवापनमें दूसरा था और अब कुछ और ही है, किन्तु मैं तीनों अवस्थाओंको जाननेवाला तीनोंमें एक ही हूँ। किसी पुरुषने मुझको बाल्यावस्थामें देखा था, अब वह मुझसे मिलता है तो मुझे पहचान नहीं सकता। देहका रूप बदल गया। शरीर बढ़ गया, मूँछें आ गयीं इससे वह नहीं पहनानता। किन्तु मैं पहचानता हूँ, मैं उससे कहता हूँ, आपका शरीर युवावस्थासे वृद्ध होनेके कारण उसमें कम अन्तर पड़ा है, इससे मैं आपको पहचानता हूँ। मैंने आपको अमुक जगह देखा था। उस समय मैं बालक था, अब मेरे शरीरमें बहुत परिवर्तन हो गया, अतः आप मुझे नहीं पहचान सके। इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर 'मैं' नहीं हूँ। किन्तु 'शरीर मैं हूँ' ऐसा अभिमान भी पूर्वोक्त नामके समान ही सर्वथा भ्रमणपूर्ण है। जो पुरुष इस रहस्यको जानते हैं वे शरीरके मानापमान और सुख-दुःखमें सर्वथा सम रहते हैं। क्योंकि वे इस बातको समझ जाते हैं कि मैं शरीरसे सर्वथा पृथक् हूँ। इसलिये तत्त्ववेत्ताओंके लक्षणोंमें भगवान् कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

(गीता १२।१८)

'मानापमानयोस्तुल्यः' (गीता १४।२५)

'समदुःखसुखः स्वस्थः' (गीता १४।२४)

अतएव विचार करनेसे यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि यह जड शरीर भी मैं नहीं हूँ, मैं इस शरीरका ज्ञाता हूँ; और प्रसिद्धि भी यही है कि शरीर 'मेरा' है। मनुष्य भ्रमसे ही शरीरमें आत्माभिमान करके इसके मानापमान और सुख दुःखसे सुखी-दुखी होता है।

इसी तरह इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ। हाथ-पैरोंके कट जाने, आँखें नष्ट हो जाने और कानोंके बहरे हो जानेपर भी मैं ज्यों-का-त्यों पूर्ववत् रहता हूँ, मरता नहीं। यदि मैं इन्द्रिय होता तो उनके विनाशमें मेरा विनाश होना सम्भव था।

अतएव थोड़ा-सा भी विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि मैं जड इन्द्रिय नहीं हूँ वरं इन्द्रियोंका द्रष्टा या ज्ञाता हूँ।

इसी प्रकार मैं मन भी नहीं हूँ। सुषुप्तिकालमें मन नहीं रहता परन्तु मैं रहता हूँ। इसीलिये जागनेके बाद मुझको इस बातका ज्ञान है कि मैं सुखसे सोया था। मैं मनका ज्ञाता हूँ। दूसरोंकी दृष्टिमें भी मनके अनुपस्थितिकालमें (सुषुप्ति या मूर्च्छित अवस्थामें) मेरी जीवित सत्ता प्रसिद्ध है। मन विकारी है, इसमें भाँति-भाँतिके संकल्प-विकल्प होते रहते हैं। मनमें होनेवाले इन सभी संकल्प-विकल्पोंका मैं ज्ञाता हूँ। खान, पान, स्नान आदि करते समय यदि मन दूसरी ओर चला जाता है तो उन कर्मोंमें कुछ भूल हो जाती है, फिर सचेत होनेपर मैं कहता हूँ, मेरा मन दूसरी जगह चला गया था इस कारण मुझसे भूल हो गयी। क्योंकि मनके बिना केवल शरीर और इन्द्रियोंसे सावधानीपूर्वक काम नहीं हो सकता। अतएव मन चञ्चल और चल है परन्तु मैं स्थिर और अचल हूँ। मन कहीं भी रहे, कुछ भी संकल्प-विकल्प करता रहे, मैं उसको जानता रहता हूँ, अतएव मैं मनका ज्ञाता हूँ, मन नहीं हूँ।

इसी तरह मैं बुद्धि भी नहीं हूँ, क्योंकि बुद्धि भी क्षय और वृद्धि-स्वभाववाली है। मैं क्षय-वृद्धिसे सर्वथा रहित हूँ। बुद्धिमें मन्दता, तीव्रता, पवित्रता, मलिनता आदि भी विकार होते हैं, परन्तु मैं इन सबसे रहित और इन सब स्थितियोंको जाननेवाला हूँ। मैं कहता हूँ उस समय मेरी बुद्धि ठीक नहीं थी, अब ठीक है। बुद्धि कब क्या विचार रही है और क्या निर्णय कर रही है इसको मैं जानता हूँ। बुद्धि दृश्य है, मैं उसका द्रष्टा हूँ। अतएव बुद्धिका मुझसे पृथक्त्व सिद्ध है, मैं बुद्धि नहीं हूँ।

इस प्रकार मैं नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रभृति नहीं हूँ। मैं इन सबसे सर्वथा अतीत, इनसे सर्वथा पृथक्, चेतन, साक्षी, सबका ज्ञाता, सत्, नित्य, अविनाशी, अविकारी, अक्रिय, सनातन, अचल और समस्त सुख-दुःखोंसे रहित केवल शुद्ध आनन्दमय आत्मा हूँ। यही मैं हूँ। यही मेरा

सच्चा स्वरूप है। क्लेश*, कर्म और सम्पूर्ण दुःखोंसे विमुक्त होकर परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति हुई है। इस परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त करना ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है। मनुष्य-शरीरके बिना अन्य किसी भी देहमें इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस स्थितिकी प्राप्ति तत्त्वज्ञानसे होती है, और वह तत्त्वज्ञान, विवेक, वैराग्य, विचार, सदाचार और सद्गुण आदिके सेवनसे होता है। और इन सबका होना इस घोर कलिकालमें ईश्वरकी दयाके बिना सम्भव नहीं। यद्यपि ईश्वरकी दया सम्पूर्ण जीवोंपर पूर्णरूपसे सदा-सर्वदा है; किन्तु बिना उनकी शरण हुए उस दयाके रहस्यको मनुष्य समझ नहीं सकता। एवं दयाके तत्त्वको समझे बिना उस दयाके द्वारा होनेवाले लाभको वह प्राप्त नहीं कर सकता। अतएव तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरके शरण होकर उनकी दयाके रहस्यको समझकर उससे पूर्ण लाभ उठाना चाहिये। ईश्वरकी शरणसे ही हमें परम शान्ति मिल सकती है। श्रीभगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम शान्ति और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

जब यह मनुष्य परमेश्वरके शरण† होकर परमेश्वरके तत्त्वको जान जाता है, तब उस परमेश्वरकी कृपासे अज्ञान नाश होकर वह परमेश्वरको प्राप्त हो

---

* अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाःक्लेशाः (योग० २। ३) अज्ञान, चिज्जडग्रन्थि, राग, द्वेष और मरणभय—ये पाँच क्लेश हैं।

† शरणका सार अर्थ है श्रद्धा और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे प्रभुकी आज्ञाका पालन करना, गुण और प्रभावसहित उसके स्वरूपका चिन्तन करना, एवं हमारे कर्मोंके अनुसार परमेश्वरकृत सुख-दुःखादि विधानमें सर्वथा समचित्त रहना।

जाता है। जैसे निद्राके नाशसे मनुष्य जाग्रत्को, दर्पणके नाशसे प्रतिबिम्ब बिम्बको तथा घटके फूटनेसे घटाकाश महाकाशको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञानके नाशसे यह जीवात्मा विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जब यह साधक नाम, रूप—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे अपनेको सर्वथा पृथक् समझ लेता है, तब यह ईश्वरकी शरण और कृपासे, देहादि सम्बन्धसे होनेवाले समस्त क्लेशों और पापोंसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाता है, एवं विज्ञानानन्दघन परमात्माका सनातन अंश होनेके कारण सदाके लिये उस विज्ञानानन्दघन प्रभुको प्राप्त हो जाता है। प्रभुको प्राप्त करनेके लिये अनन्यभावसे इस प्रकार प्रयत्न करना और प्रभुको प्राप्त हो जाना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है।

★

सांख्ययोग और कर्मयोग

गीता अध्याय ५ श्लोक ५ में भगवान् कहते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

'ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगको एक देखता है वही यथार्थ देखता है।' परन्तु इस विषयमें यह शङ्का होती है कि यहाँ भगवान् सांख्य और योगके फलको एक कहते हैं या दोनोंका सिद्धान्त ही एक बतलाते हैं। यदि फल एक कहते हैं तो सिद्धान्त भिन्न-भिन्न होनेसे फल एक कैसे हो सकता है और यदि दोनोंका सिद्धान्त ही एक कहा जाय तो उचित नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि योग और सांख्यके सिद्धान्तमें परस्पर बड़ा अन्तर है।

योगके सिद्धान्तमें फलासक्तिको त्यागकर मनुष्य ईश्वरके लिये कर्म करता है तो भी उसमें कर्तापनका अभिमान रहता है।

सांख्यके सिद्धान्तसे कर्मका कर्ता मनुष्य नहीं है, उसके द्वारा कर्म होते हैं तो भी उन कर्मोंमें उस पुरुषका अभिमान नहीं रहता, वह तो केवल साक्षीमात्र ही रहता है।

कर्मयोगी अपनेको, ईश्वरको तथा कार्यसहित प्रकृतिको पृथक्-पृथक् तीन सत्य पदार्थ मानता है; परन्तु सांख्ययोगी ईश्वरकी सत्ताको अपनेसे अलग नहीं मानता, केवल एक आत्मसत्ता ही है ऐसे मानता है तथा विकारसहित प्रकृतिको अन्तवन्त यानी नाशवान् मानता है। अतएव दोनोंका सिद्धान्त भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, फिर सांख्य और योगको यहाँ किस विषयमें एक बतलाया गया है ?

उपर्युक्त शङ्काका उत्तर यह है—

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥

(गीता ५।४)

'सांख्य और योग इन दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकारसे स्थित हुआ पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है।' परमात्माकी प्राप्तिरूप फल दोनोंका एक ही है। परम धाम, परम पद और परम गतिकी प्राप्ति भी इसीको कहते हैं।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि सांख्य और योग इन दोनों साधनोंका फल एक होनेके कारण इन्हें एक कहा है। फल एक होनेसे सिद्धान्त भी एक ही होना चाहिये, यह ठीक है परन्तु यह कोई नियम नहीं है। मार्ग (साधन) और लक्ष्य भिन्न-भिन्न भी हो सकते हैं।

जैसे एक ही ग्रामको जानेके लिये अनेक रास्ते होते हैं, किसी रास्तेसे जाइये, परिणाम सबका एक ही होता है। जैसे किसी एक देश (अमेरिका) को जानेवालोंमें एक तो अपनी दिशा (भारतवर्ष) से पश्चिम-ही-पश्चिम जाता है और दूसरा पूर्व-ही-पूर्व जाता है; किन्तु चलते-चलते अन्तमें दोनों ही वहाँ पहुँच जाते हैं। रास्ता भिन्न-भिन्न होनेके कारण परस्पर एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर मालूम होता है परन्तु उस देशमें पहुँचनेपर वह अन्तर नहीं रहता।

इस प्रकार एक ग्रामको जानेके लिये जैसे अनेक मार्ग होते हैं, वैसे ही एक कार्यकी सिद्धिके लिये साधन भी अनेक हो सकते हैं।

जैसे सूर्य और चन्द्रग्रहणको सिद्ध करनेवाले पुरुषोंमें एक पक्ष तो कहता है कि पृथिवी स्थिर है, सूर्य और चन्द्रमा चलते हैं और दूसरा कहता है कि पृथिवी भी चलती है। दोनोंका मत भिन्न-भिन्न होनेके कारण एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर है, किन्तु फल दोनोंका एक होता है।

इसलिये साधन और मतकी अत्यन्त भिन्नता होनेपर भी दोनोंका उद्देश्य और परिणाम एक ईश्वरकी प्राप्ति होनेसे वह एक ही है।

अब सांख्य* और कर्मयोग† की एकताके विषयमें लिखा जाता है। उपासना दोनों ही साधनोंमें रहती है। उपासनारहित ज्ञान और कर्मयोग वैसे ही शुष्क हैं, जैसे बिना जलके नदी।

---

* † गीतोक्त सांख्य और कर्मयोगको महर्षि कपिलप्रणीत सांख्यदर्शनसे तथा महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगदर्शनसे भिन्न समझना चाहिये।

****

गीताके अनुसार सांख्ययोगीकी निष्ठामें विज्ञानानन्दघन केवल एक आत्मतत्त्व ही अनादि, नित्य और सत्य है। उस विज्ञानानन्दघनके संकल्पके आधारपर एक अंशमें संसारकी प्रतीति होती है जैसे निर्मल आकाशके किसी एक अंशमें बादलकी। इसलिये सांख्ययोगी विशुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर शोक, भय, राग-द्वेष, ममता, अहंकार और परिग्रहसे रहित हुआ पवित्र और एकान्तदेशका सेवन करता है एवं मन, वाणी तथा शरीरको वशमें किये हुए, सम्पूर्ण भूतोंमें समभाव होकर आत्मतत्त्वका विवेचन करता हुआ प्रशान्त-चित्तसे परमात्माके स्वरूपका एकीभावसे इस प्रकार ध्यान करता है कि एक आनन्दघन विज्ञानस्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है। उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उस ब्रह्मका ज्ञान भी उस ब्रह्मको ही है। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं होता। इसलिये उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते हैं। वह सीमारहित, अपार और अनन्त है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो भी कुछ है, सब ब्रह्मस्वरूप ही है। वास्तवमें एक पूर्णब्रह्म परमात्माके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है।

वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा 'पूर्ण-आनन्द' 'अपार-आनन्द' 'शान्त-आनन्द' 'घन-आनन्द' 'बोधस्वरूप-आनन्द' 'ज्ञानस्वरूपआनन्द' 'परम-आनन्द' 'नित्य-आनन्द' 'सत्-आनन्द' 'चेतन-आनन्द' 'आनन्द-ही-आनन्द' है। एक 'आनन्द' के सिवा और कुछ भी नहीं है। इस इस प्रकार मनन करते-करते जब मनके समस्त संकल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरूप, आनन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका संकल्प ही नहीं रहता, तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्मामें निश्चल हो जाती है। इस प्रकारसे ध्यानका नित्य नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्व होनेपर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस संसारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहती, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता है।

सांख्ययोगी व्यवहार-कालमें चौबीस तत्त्वोंवाले* क्षेत्रको जड़, विकारी, नाशवान् और अनित्य समझता है और सम्पूर्ण क्रिया—कर्मोंको प्रकृतिके कार्यरूप उस क्षेत्रसे ही किये हुए समझता है अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं इस प्रकार समझता है। एवं नित्य, चेतन, अविनाशी आत्माको निर्विकार, अकर्ता तथा शरीरसे विलक्षण समझता है । यों समझकर वह सांख्ययोगी मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर कर्म करता हुआ भी कर्मोंद्वारा नहीं बँधता।

वह सम्पूर्ण भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको केवल एक परमात्माके संकल्पके आधार स्थित देखता है और उस परमात्माके सङ्कल्पसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिके विस्तारको देखता है। इस प्रकार अभ्यास करते-करते अभ्यासके परिपक्व होनेसे वह ब्रह्मको एकीभावसे प्राप्त हो जाता है। यानी वह उस ब्रह्मको तद्रूपतासे प्राप्त हो जाता है। जैसे गीतामें भगवान्ने कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

(५।१७)

'हे अर्जुन! तद्रूप है बुद्धि जिनकी, तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानद्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

---

* महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

(गीता १३।५)

पाँच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका सूक्ष्मभाव; अहंकार, बुद्धि और मूल-प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

ब्रह्मको प्राप्त होनेके बाद पुरुषकी जो स्थिति होती है, उसके विषयमें कुछ भी लिखना वस्तुतः बड़ा ही कठिन है। तथापि साधु, महात्मा और शास्त्रोंके द्वारा यत्किञ्चित् जो कुछ समझमें आया है, वह पाठकोंकी जानकारीके लिये लिखा जाता है, त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करें।

जैसे मनुष्य, बादलोंके पृथक्-पृथक् विकारके कारण, प्रतीत होनेवाले पृथक्-पृथक् आकाशके खण्डोंको बादलोंके नाश हो जानेपर उस एक अनन्त निर्मल महाकाशके अन्तर ही देखता है अर्थात् केवल एक अनन्त निर्मल आकाशके अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, वैसे ही ज्ञानी महात्मा मायासे उत्पन्न हुए शरीरोंके पृथक्-पृथक् विकारके कारण (अज्ञानसे) प्रतीत होनेवाले भूतों (जीवों) के पृथक्-पृथक् भावोंको अज्ञानके नाश हो जानेपर उन जीवोंकी नाना सत्ताको केवल उस एक अनन्त, नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके अन्तर ही देखता है अर्थात् वह केवल एक विशुद्ध, नित्य, विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं देखता। यद्यपि उस ज्ञानीके लिये संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है तो भी प्रारब्धके कारण उसके अन्तःकरणमें संसारकी प्रतीतिमात्र होती भी है।

जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी सृष्टिका उपादान-कारण और निमित्त-कारण अपने आपको ही देखता है, वैसे ही वह सम्पूर्ण चराचर भूतप्राणियोंका उपादान-कारण* और निमित्तकारण† केवल विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको ही देखता है, क्योंकि जब एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं रहती, तब वह उस ब्रह्मसे भिन्न किसको कैसे देखे ? यही उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति है। इसीको परमपद, परमधाम और परमगतिकी प्राप्ति भी कहते हैं।

---

* उपादान-कारण उसे कहते हैं, जिससे कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैसे घड़ेका उपादान-कारण मिट्टी और आभूषणोंका सुवर्ण है।

† निमित्त-कारण उसे कहते हैं जिसके द्वारा वस्तुका निर्माण होता है। जैसे घड़ेका निमित्त-कारण कुम्हार और आभूषणोंका सुनार।

गीताके अनुसार कर्मयोगकी निष्ठामें प्रकृति यानी माया, जीवात्मा और परमेश्वर यह तीन पदार्थ माने गये हैं। सातवें अध्यायमें भगवान्‌ने मायाके विस्तारको अपरा प्रकृति, जीवात्माको परा और परमेश्वरको अहंके नामसे वर्णन किया है। पंद्रहवें अध्यायमें इन्हीं तीनों पदार्थोंको क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके नामसे कहा है। वे सर्वशक्तिमान् सबके कर्ता-हर्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वर उस नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं* यानी विज्ञानानन्दघन ब्रह्म भी वही हैं। उन्होंने ही अपनी योग मायाके एक अंशसे सम्पूर्ण संसारको अपनेमें धारण कर रखा है†। माया ईश्वरकी शक्ति है तथा जड़, अनित्य और विकारी है एवं ईश्वरके अधीन है तथा जीवात्मा भी ईश्वरका अंश होनेके कारण नित्य विज्ञानानन्दघनस्वरूप है‡। किन्तु मायामें स्थित होनेके कारण परवश हुआ वह गुण और कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखादिको भोगता एवं जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है। परन्तु परमात्माकी शरण होनेसे वह मायासे छुटकारा पाकर परमपदको प्राप्त हो सकता है। गीता अध्याय ७ श्लोक १४ में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया

---

* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(गीता १४।२७)

† विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(गीता १०।४२)

‡ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(गीता १५।७)

इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।
ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, यानी मेरी शरण आ जाते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

इसलिये कर्मयोगी पवित्र और एकान्त स्थानमें स्थित होकर भी शरीर, इन्द्रिय और मनको स्वाधीन किये हुए परमात्माकी शरण हुआ प्रशान्त और एकाग्र मनसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक परमात्माका ध्यान करता है, ऐसे योगीकी भगवान्‌ने स्वयं प्रशंसा की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(गीता ६। ४७)

'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।'

व्यवहारकालमें कर्मयोगी कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर समत्वबुद्धिसे भगवदाज्ञानुसार, भगवदर्थ कर्म करता है, इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते। क्योंकि राग-द्वेष ही बाँधनेवाले हैं। समत्वबुद्धि होनेसे राग-द्वेषका नाश हो जाता है। इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते। ऐसे योगीकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'उसको नित्य-संन्यासी जानना चाहिये।'

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

(गीता ५। ३)

'हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

भगवत्‌की आज्ञासे भगवदर्थ कर्म किये जानेके कारण उसमें कर्तापनका अभिमान भी निरभिमानके समान ही है। इसलिये वह निष्काम कर्मयोगी व्यवहारकालमें भगवान्‌की शरण होकर निरन्तर भगवान्‌को याद रखता हुआ भगवान्‌के आज्ञानुसार सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही करता है,

****

जैसे गीता अध्याय १८ श्लोक ५६-५७ में भगवान्ने कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

'मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।'

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब कर्मोंको मनसे मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्व-बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।'

इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब भगवान्की कृपासे उनके प्रभावको समझ जाता है तब वह सब प्रकारसे नित्य-निरन्तर भगवान् वासुदेवको ही भजता है। जैसे गीतामें कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

(१५।१९)

'हे भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मेरेको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

फिर उसको भजनके प्रभावसे सर्वत्र एक वासुदेव ही दीखता है । इसलिये वह वासुदेवसे कभी अलग नहीं हो सकता।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(गीता ६।३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

इससे वह भगवान् वासुदेवको ही प्राप्त हो जाता है और उसके लिये यह सम्पूर्ण संसार भी वासुदेवके रूपमें परिणत हो जाता है। एक वासुदेवके सिवा कोई भी वस्तु नहीं रहती। वहाँ मायाका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

भक्ति, भक्त, भगवन्त सब एक ही रूपमें परिणत हो जाते हैं। इसलिये उस भक्तकी भगवान्से कोई अलग सत्ता नहीं रहती। तद्रूपतासे उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

इन शब्दोंसे जो सांख्ययोगके द्वारा साधन करनेवाले ज्ञानीको प्राप्त होनेयोग्य परमधाम बतलाया गया है, भगवान्की कृपासे वही परम धाम निष्काम कर्मयोगके साधन करनेवाले भक्तको प्राप्त होता है।

उसी महात्माकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७। १९)

'जो बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।'

परन्तु कोई-कोई भक्त अविद्याके नाश होनेपर भी भगवान्के रहस्यको जानता हुआ प्रेमके सामने मुक्तिको तुच्छ समझता है और वह भगवान्को सेव्य और अपनेको सेवक या सखा समझकर भगवान्के प्रेमरसका पान करता है, उसके लिये भगवान्की माया लीलाके रूपमें परिणत हो जाती है। इसलिये वह पुरुष भगवान्में तद्रूपताको न प्राप्त होकर भगवान्की कृपासे दिव्य देहको धारण करके अर्चिमार्गके द्वारा स्थान-विशेष भगवान्के परम दिव्य नित्यधामको प्राप्त होता है, वहाँ उस लीलामय भगवान्के साथ लीला करता हुआ नित्य प्रेममय अमृतका पान करता है; फिर दुःखके आलय इस अनित्य पुनर्जन्मको वह प्राप्त नहीं होता।

****

साधनकी परिपक्व अवस्था होनेसे दोनोंके ही राग-द्वेष, अहंता-ममता, भय एवं अज्ञान आदि विकार नाश हो जाते हैं। और वे तेज, क्षमा, धृति, शौच, संतोष, समता, शान्ति, सत्यता और दया आदि गुणोंसे सम्पन्न हो जाते हैं।

सांख्ययोगीका कर्मोंमें कर्तृत्व-अभिमान न रहनेके कारण कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता और कर्मयोगी फलासक्तिको त्याग कर कर्मोंको ईश्वर-अर्पण कर देता है, इसलिये उसका कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता। सांख्ययोगी संसारका बाध करके विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी स्थापना करता है और निष्काम कर्मयोगी प्रकृतिसहित संसारको और अपने-आपको भी परमात्माके स्वरूपमें परिणत कर देता है। फलतः बात एक ही है। इसलिये भगवान्‌ने सांख्य और योगको फलमें एकता होनेके कारण एक कहा है।

उपसंहार

परमात्माकी प्राप्तिका यह विषय इतना गहन है कि इसे लिखकर समझाना असम्भव है, क्योंकि यह वाणीका विषय ही नहीं है। यह परम गोपनीय रहस्य है, और सम्पूर्ण साधनोंका फल है। जो इसको प्राप्त होता है वही इसको जानता है परन्तु इस प्रकार भी कहना नहीं बनता। जो भी कुछ कहा जाता है या समझा जाता है उससे वह विलक्षण ही रह जाता है। जाननेवाले ही उसको जानते हैं और जाननेवालोंसे ही जाना जा सकता है। अतएव जाननेवालोंसे जानना चाहिये। श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर उनके द्वारा तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो। कविगण इसे क्षुरके तीक्ष्ण धारके समान अत्यन्त कठिन मार्ग बतलाते हैं।' परन्तु कठिन मानकर हताश होनेकी कोई आवश्यकता

****

नहीं। क्योंकि भगवान्‌में चित्त लगानेसे मनुष्य सारी कठिनाइयोंसे अनायास ही तर जाता है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८।१४)

'हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझको स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। यानी सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।'

किन्तु बिना प्रेमके निरन्तर चिन्तन नहीं होता और बिना श्रद्धा प्रेम होना कठिन है तथा वह श्रद्धा महान् पुरुषोंके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यको समझनेसे होती है।

इसलिये महान् पुरुषोंका सङ्ग करके* परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रेम बढ़ाना चाहिये। जिनकी परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रीति नहीं है उन्हींके लिये सब कठिनाइयाँ हैं।

———————

* संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी, महात्मा दीखें, उन्हींके पास जाकर उनके आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लगना सङ्ग करना है।

ईश्वर-महिमा

(१) ईश्वर कल्पना नहीं, ध्रुव सत्य है

कुछ भाई ऐसे हैं, जो ईश्वरको कल्पित मानते हैं परन्तु विचार करके देखनेसे यही सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके तत्त्वको नहीं जानते। ईश्वर शेखचिल्लीके घरकी कल्पनाकी भाँति मनमोदक नहीं हैं। जो कल्पित होता है वह असत्य होता है और जो असत्य होता है वह विचार करनेपर ठहरता नहीं। वह वस्तु उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाली होती है, प्रत्यक्षमें दीखती हुई भी एक रूपमें नहीं रह सकती और उसका परिवर्तन होता रहता है, परन्तु जो वस्तु सत् होती है, उसकी न उत्पत्ति होती है न उसका विनाश होता है। वह सदा अनादि होती है, एक रूपमें रहती है और उसमें परिवर्तन नहीं होता।

यदि किसीको उस सत् वस्तुमें भूलसे विपरीतता प्रतीत होती हो तो यह उसकी भ्रान्ति है। इससे सत् वस्तुमें कोई कलंक नहीं आता, जैसे किसीको नेत्रोंके दोषसे चन्द्रमा पीतवर्ण प्रतीत होता हो तो इससे चन्द्रमा पीला नहीं समझा जा सकता। चन्द्रमा तो पीतवर्णके दोषसे रहित शुद्ध और श्वेत ही है।

जो वस्तु सत् होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता। जिसका कभी किसी कालमें अभाव नहीं होता वही वस्तु सत्य है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी सत्के लक्षण करते हुए गीतामें इस प्रकार कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

(२।१६)

'असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं होता है और सत्का अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

ऐसी सत् वस्तु एक विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा है जो परमेश्वर, ब्रह्म, पुरुषोत्तम, अल्लाह, खुदा, गॉड आदि अनेक नामोंसे संसारमें माना गया है। सबके परिवर्तित होनेपर भी उसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन होनेवाले पदार्थ परिवर्तन होते-होते जिसमें जाकर शेष हो जाते हैं, जिसको सब लोग नित्य, ध्रुव, सत्य कहते हैं और जो सबका द्रष्टा है उसीको हम ईश्वर मानते हैं। तर्कसे बाध करनेपर भी जिसका बाध नहीं होता और जो विज्ञानवान् पुरुषोंद्वारा निर्णय किया हुआ सत् पदार्थ है उसीका नाम परमात्मा है। उसको चित्-शक्ति या चेतन-तत्त्व भी कहते हैं।

संसारमें दो पदार्थ हैं—एक चेतन और दूसरा जड। उनको पुरुष और प्रकृति भी कहते हैं। चेतनके दो भेद हैं—एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। उनमें जीवात्मा अंश है, परमात्मा अंशी है। जीवात्मा नाना और परमात्मा एक है। यह चौबीस तत्त्वोंवाला संसार जड है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

(गीता १३। ५)

'पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय—ये चौबीस तत्त्व हैं।'

जो जड है वह दृश्य है। जो चेतन है वह द्रष्टा है। जडको ज्ञेय और चेतनको ज्ञाता भी कहते हैं। वह ज्ञेय ज्ञाताके ही आधारपर है। भगवान्ने कहा है—

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।

(गीता ७। ५)

'जीवस्वरूप चेतन प्रकृतिके द्वारा यह सारा संसार धारण हो रहा है।'

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०।४२)

'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

जड अल्प है, चेतन अनन्त है। जड उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाला है, चेतन अजन्मा, नित्य, अविनाशी है। जडमें हर समय परिवर्तन होता रहता है, इसलिये उसको क्षणभङ्गुर भी कहते हैं। चेतनमें परिवर्तन नहीं होता तो भी मूढ़ बुद्धिवालोंको भ्रान्तिके कारण जडके सम्बन्धसे चेतनमें परिवर्तन भासित होता है, परन्तु विचार करनेपर नहीं ठहरता, जैसे निर्लेप आकाशमें अपने नेत्रोंके दोषसे मोरपक्षकी भाँति प्रतीत होनेवाले तिरवरोंका होना विचारसे सिद्ध नहीं होता।

परमात्मा कल्पित नहीं, ध्रुव सत्य है। यह बात सब शास्त्रोंसे भी सिद्ध होती है। ध्रुव, प्रह्लाद-सरीखे भक्तोंकी आख्यायिकाएँ यह बिलकुल प्रमाणित कर देती हैं। जैसे—खम्भमेंसे प्रकट होकर नृसिंह भगवान्‌का हिरण्यकशिपुको मारना, प्रह्लादकी रक्षा करना और प्रह्लादको शिक्षा देना। जैसे ध्रुवको वनमें दर्शन देना और उसको दिये हुए वरदानके अनुसार उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि होना। ध्रुवको राज्य मिल जाना और बिना पढ़े ही केवल भगवान्‌के शंखके स्पर्शमात्रसे श्रुति-स्मृतिका ज्ञान हो जाना। इस प्रकारका कार्य किसी कल्पित ईश्वरसे सिद्ध नहीं हो सकता।

ऐसी कथाएँ श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्रोंमें अनेकों मिलती हैं। ये सब ऐतिहासिक सच्ची घटनाएँ हैं। कपोलकल्पित नहीं हैं। इन सबको उपन्यासोंकी भाँति कल्पित समझना अत्यन्त भूल है। बिना हुई घटनाओंका इस प्रकार प्रचार होना तथा अनेक युगोंसे इतिहासरूपमें श्रद्धासहित उनका प्रचलित होना सम्भव नहीं।

आधुनिक कालमें भी सूरदास, तुलसीदास, तुकाराम, नरसी, चैतन्य महाप्रभु और मीराबाई आदि अनेक भक्त महात्मा हो गये हैं। उन महापुरुषोंके वचनोंसे भी ईश्वरका अस्तित्व इतिहाससहित सिद्ध है। ऐसे पुरुषोंकी जीवनीमें और उनके वचनोंपर सर्वथा अविश्वास करना अपनी बुद्धिका परिचय देना है। उन महापुरुषोंके जीवनकी जो घटनाएँ हैं उनपर विचार करनेसे ईश्वरके अस्तित्वमें उत्तरोत्तर श्रद्धा बढ़ती है। ऐसे त्यागी और सच्चे पुरुषोंपर अविश्वास करना और यह कहना कि दुनियाको धोखा देनेके लिये उन्होंने ये बातें फैला दीं, उनपर कलंक लगाना है। ऐसे पुरुषोंपर कलंक लगानेवाले अज्ञानियोंके लिये तो फिर कोई भी विश्वासका आधार नहीं ठहरता।

ईश्वरकी सिद्धिमें अनेकों बलवान् युक्तियाँ भी प्रमाण हैं। विचार करके देखा जाय तो ईश्वरके अस्तित्वको पशु और पक्षी भी सिद्ध करते हैं। फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? जब कोई पुरुष लाठी लेकर कुत्तेको मारने जाता है तो वह कुत्ता दूरसे ही उस लाठीको देखकर चिल्लाता है। अभी उसके चोट नहीं लगी, न उसके शरीरमें कोई पीड़ा ही होती है; परन्तु आनेवाले भयको देखकर वह चिल्ला उठता है। उसके चिल्लानेका मतलब यही है कि मेरे चिल्लानेसे आनेवाले दुःखकी निवृत्ति हो जायगी। क्योंकि मेरी चिल्लाहटको सुनकर रक्षा करनेवाली शक्ति मेरी रक्षा करेगी। इस प्रकार चिल्लानेसे उस कुत्तेकी रक्षा होती हुई भी देखनेमें आती है।

जिस दयामयी शक्तिका सभी चराचर जीव आसरा लेकर दुःख मिटानेके लिये करुणाभावसे आर्तनाद करते हैं और जिस दयामयी शक्तिसे दुखियोंका दुःख मिटता है, उस शक्तिशालीको हम परमात्मा मानते हैं।

जो ईश्वरको नहीं मानते हैं, वे पुरुष भी जब उनपर भारी विपत्ति पड़ती है तब किसी एक शक्तिका आश्रय करके अपनी विपत्तिके नाशके लिये दीन होकर करुणापूर्ण वचनोंका उच्चारण करते हैं। वे जिस शक्तिके आश्रयसे अपना दुःख मिटाना चाहते हैं, जिस शक्तिको मानकर दीनता स्वीकार करते

हैं और जिस शक्तिके द्वारा उनकी दीनतासे की हुई माँग पूरी होती है, उन लोगोंको भी उस शक्तिशाली चेतन दयासिन्धु दीनबन्धुको ईश्वर समझकर कृतज्ञ होना चाहिये।

वर्तमानमें भी जो पुरुष ईश्वरमें विश्वास करके और उनकी शरण होकर प्रयत्न करते हैं उनको भी सफलता मिली है और मिल रही है। बिना हुई वस्तुके अस्तित्वका प्रचार होना सम्भव नहीं है। यदि हो भी जाय तो उसकी इतनी स्थिर स्थिति नहीं रह सकती।

संसारमें जो भी कुछ प्रतीत होता है उसके मूलमें अवश्य ही कोई महान् शक्ति है। प्रतीत होनेवाले पदार्थका परिवर्तन माना जा सकता है परन्तु अभाव नहीं। क्योंकि बिना हुई वस्तुका अस्तित्व सम्भव नहीं है। जो सम्पूर्ण संसारका आधार है, जिसको मूल कारण भी कहा जा सकता है, उसीको ईश्वर समझना चाहिये। क्योंकि कार्यके मूलमें अवश्य कारण रहता है। कोई भी कार्य बिना कारणके देखनेमें नहीं आता। कोई भी पदार्थ बिना आधारके नहीं रह सकता, अतएव इस सम्पूर्ण संसारका जो आधार और मूल कारण है वह परमात्मा है। वह चेतन है, क्योंकि जड पदार्थमें नियमितरूपसे यथायोग्य विभाग और सञ्चालन करनेकी और उसको नियममें रखनेकी योग्यता नहीं होती। परमात्मा केवल युक्ति और शास्त्र-प्रमाणसे ही सिद्ध हों, सो बात नहीं, वह प्रत्यक्ष भी हैं। क्योंकि उनकी प्राप्तिके लिये जिन्होंने यत्न किया है उनको वे मिले हैं, मिल रहे हैं, अब भी किसीको उनका प्रत्यक्ष करना हो तो वह शास्त्रोक्त साधनोंके द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है। जिन पुरुषोंको प्रत्यक्ष हुआ है, उनके बताये हुए साधनके अनुसार चेष्टा करनेसे भी चेष्टा करनेवालोंको प्रत्यक्ष होता है। अवश्य ही ऐसी अमूल्य वस्तुके लिये जितने प्रयत्नकी आवश्यकता है उतना प्रयत्न होना चाहिये। साधारण वस्तुको प्राप्त करनेमें साधारण प्रयत्न करना पड़ता है, एक विशेष वस्तुके लिये विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता है। किसी देशके बादशाह विलायतमें हैं। यदि कोई उनसे प्रत्यक्ष मिलना चाहे तो

विलायत जाकर मिलनेके लिये उचित चेष्टा करनेपर मिलना हो सकता है। यदि किसी कारणसे न भी जाना हो तो उसको यह तो समझ लेना चाहिये कि बादशाह विलायतमें हैं; क्योंकि दूसरे मिलनेवालोंसे सुना जाता है और राज्यकी व्यवस्था भी उनके आज्ञानुसार नियमानुकूल होती देखी जाती है। इसी प्रकारसे उस असंख्य ब्रह्माण्डोंके मालिकसे कोई मिलना चाहे तो उसीके अनुसार प्रयत्न करनेसे उसका मिलना सम्भव है। किसी राजासे तो मिलना चाहनेपर मिलना हो भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि राजा प्रायः स्वार्थी होते हैं और बिना प्रयोजन मिलना नहीं चाहते। परन्तु सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद् एवं बिना कारण दया करनेवाले भगवान्‌की तो यह नीति है कि जो भी कोई उनसे मिलना चाहे वे उससे मिलते ही हैं। वे कहते हैं—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

राजाके मिलनेके लिये थोड़ा प्रयत्न करके छोड़ देनेसे किया हुआ प्रयत्न व्यर्थ भी हो जाता है; परन्तु ईश्वरके लिये किया हुआ थोड़ा-सा भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'** ईश्वरके लिये किये हुए कर्मका नाश नहीं होता। ईश्वरका मिलना भी राजासे मिलनेकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण है। **'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्।'**

इन्द्रियों और मन-बुद्धिके द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुकी अपेक्षा आत्मानुभवसे प्रत्यक्ष की हुई वस्तुमें अत्यन्त विशेषता होती है। क्योंकि इन्द्रियाँ और अन्तःकरण अल्पशक्तिवाले होनेके कारण वस्तुका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते। जैसे विमान, पक्षी आदि बहुत दूरमें स्थित वस्तु नेत्रोंसे नहीं दीखती, अञ्जन नेत्रोंके अत्यन्त समीप होनेपर भी नहीं दीखता, तारे दिनमें आकाशमें स्थित होते हुए भी सूर्यके प्रकाशसे तिरोहित होनेके कारण नहीं दीखते, रात्रिके समय सूर्य पृथ्वीकी ओटमें आ जानेके कारण नहीं दीखता इत्यादि। सूर्यकी किरणोंमें जलके परमाणु रहते हैं; परन्तु सूक्ष्म होनेके कारण नेत्रोंसे प्रतीत नहीं होते और बहुत-से विषय इन्द्रियोंके खराब हो जानेके कारण

****

नहीं प्रतीत होते। जैसे बहिरेको शब्दका न सुनना, अन्धेको रूपका न दीखना इत्यादि। इन्द्रियाँ मिले हुए सजातीय पदार्थोंको भी अलग-अलग करने और पहचाननेमें असमर्थ हैं, जैसे गाय और बकरीके दूधको मिला देनेपर वह न अलग ही किया जा सकता है और न पहचाना ही जा सकता है। बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जहाँ इन्द्रियोंकी गम्य ही नहीं है। जैसे मनुष्यमें मन-बुद्धि होते हैं परन्तु वे इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते। मन-बुद्धिका ज्ञान भी अल्प और भ्रान्त है। किसी एक मनुष्यको आज हम बुद्धिके द्वारा धर्मात्मा समझते हैं, फिर उसीको थोड़े दिन बाद पापी समझने लग जाते हैं, एक मनुष्य कथा बाँच रहा है और बहुत-से मनुष्य कथा सुन रहे हैं। सुननेवालोंका उस पुरुषपर अपना-अपना अलग-अलग निश्चय है। कथा बाँचकर चले जानेपर श्रोतागण परस्पर विचार करने लगते हैं। एक कहता है कि पण्डितजी दम्भी हैं, क्योंकि ये दूसरोंको उपदेश देते हैं और स्वयं पालते नहीं। दूसरा कहता है दम्भी तो नहीं हैं परन्तु स्वार्थी हैं, कोई भेंट चढ़ाता है तो उसको बड़ी प्रसन्नतासे ले लेते हैं। तीसरा कहता है पण्डितजी भेंटके लिये कथा नहीं बाँचते , यह बात जरूर है कि वे मान-बड़ाई चाहते हैं। चौथा कहता है—भेंट और पूजा तो इनको श्रोताओंकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करनी पड़ती है, असलमें तो इनका कथा करना इसलिये है कि श्रोताओंके सम्बन्धसे भगवच्चर्चा करनेसे मेरी आत्मा भी पवित्र हो जायगी। इस उद्देश्यसे पण्डितजी अपने और श्रोताओंके कल्याणके लिये कथा करते हैं। एक परम श्रद्धालु कहता है कि पण्डितजी तो स्वयं कल्याण-स्वरूप हैं; हमलोगोंके कल्याणके लिये ही इनकी सम्पूर्ण क्रिया है।

अब विचारणीय विषय यह है कि एक ही देशमें, एक ही कालमें, एक ही पुरुषद्वारा और एक ही क्रिया हो रही है, उसमें भी लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भिन्न-भिन्न निश्चय कर रहे हैं। हो सकता है कि इन पाँचोंमेंसे किसी एकका निश्चय ठीक हो परन्तु चारकी गलती अवश्य ही माननी पड़ेगी। इससे यह बात निश्चय हुई कि बुद्धिद्वारा किया हुआ निर्णय भी ठीक नहीं समझा जा सकता।

एक मनुष्य किसी एक मजहबको अच्छा समझता है, फिर थोड़े दिनके बाद वही उसको खराब समझकर दूसरेको अच्छा समझने लग जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जबतक मन-बुद्धि पवित्र नहीं हो जाते तबतक उनका किया हुआ निर्णय भी यथार्थ नहीं समझा जा सकता। इस विषयमें बहुत बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी चक्करमें पड़ जाते हैं; फिर एक साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है। जिन पुरुषोंकी आत्मा पवित्र है, जिन्होंने आत्मासे परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है उन पुरुषोंका जो निर्णय है वही ठीक है। जबतक परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता तबतक अज्ञानी पुरुषोंको तो अपने-आपके नित्य अस्तित्वके विषयमें भी अनेक प्रकारकी शङ्काएँ होती हैं। फिर ईश्वर, लोक, परलोक, शास्त्र और महात्माओंमें शङ्का होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है।

शङ्का, विचार, श्रद्धा और निर्णयादि मन-बुद्धिमें होते हैं। मन-बुद्धि परिवर्तनशील होनेके कारण श्रद्धा और विचार आदिमें भी समय-समयपर परिवर्तन होता रहता है।

स्वप्नमें मनुष्य निद्राके दोषसे अनेक प्रकारके पदार्थोंको देखता है, उनको वह पुरुष उस कालमें प्रत्यक्ष और सत्य मान लेता है; परन्तु जागनेके बाद उनका अत्यन्त अभाव देखकर असत् मानता है। इसी प्रकारसे जाग्रत्-अवस्थामें भी अज्ञानके कारण असत्में सत्-बुद्धि कर लेता है। इसलिये मन और बुद्धिके पवित्र और स्थिर हुए बिना उनका किया हुआ अनुमान और निश्चय ठीक नहीं समझा जाता। साधनोंके द्वारा जब मन और बुद्धि पवित्र हो जाते हैं तभी उनका किया हुआ निर्णय यथार्थ होता है।

बुद्धिके द्वारा निर्णय किये हुए पदार्थोंकी प्रत्यक्षताकी अपेक्षा भी आत्मानुभवके द्वारा निर्णय किये हुए पदार्थोंकी प्रत्यक्षता विशेष है। जैसे पुरुष अपने अस्तित्वके विषयमें समझता है कि मैं निश्चय हूँ, इस निश्चयका तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान), तीनों अवस्था (कुमार, युवा, जरा), (जाग्रत्,

स्वप्न, सुषुप्ति) और तीनों शरीर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) में कभी भी अभाव नहीं होता। जो बात तीनों कालमें है वही सत्य है। स्वयं अपनी आत्मा तीनों कालमें होनेके कारण नित्य सत्य है। इस सत्यका किया हुआ अनुभव ही सत्य है। परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव आत्मासे ही हो सकता है। जब आत्माका सम्बन्ध मन-बुद्धिसे छूटकर परमात्मामें जुड़ जाता है तभी आत्मा परमात्माका यथार्थरूपमें अनुभव करता है। वही असली अनुभव है। उसमें भूल नहीं हो सकती। अतएव आत्मानुभवकी प्रत्यक्षताके समान मन-बुद्धिकी प्रत्यक्षता नहीं समझी जाती। जिन पुरुषोंको परमात्माका यथार्थ अनुभव हुआ है, उन पुरुषोंका ऐसा कथन पाया जाता है।

तीनों शरीरोंमें, तीनों अवस्थाओंका हर समय परिवर्तन होनेपर भी तीनों अवस्था और तीनों कालमें आत्मा निर्विकाररूपमें सदा एकरस रहता है। इसी प्रकारसे एक शरीरसे दूसरे शरीरकी प्राप्तिमें भी आत्माका परिवर्तन नहीं होता।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध-अवस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, इस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।' भगवान् कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

(गीता १५। १०-११)

'शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे युक्त हुएको अज्ञानीजन नहीं

जानते। केवल ज्ञानरूप नेत्रवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं, योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं और जिन्होंने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते।'

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि कुमार, युवा और जरावस्थामें देहके विकारसे आत्मा विकारी नहीं होता। इसी प्रकारसे देहान्तरकी प्राप्तिसे भी आत्मा विकारी नहीं होता। अतएव आत्मा अविकारी है और जो अविकारी है वही नित्य है। जो नित्य है वही सत्य है। वह सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा ही सबकी आत्मा है; क्योंकि आत्मा ईश्वरका अंश होनेके कारण सबकी आत्मा परमात्मा ही है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(गीता १०।२०)

'हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।' अतएव परमात्मा निर्विकार, अजन्मा, अविनाशी, नित्य, ध्रुव सत्य प्रमाणित हैं।

(२) ईश्वरके दण्डविधानमें भी दया है।

भगवान् दयाके असीम, अनन्त, अथाह सागर हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, उसमें जीवोंके प्रति दया भरी रहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे अन्याय करते हैं या उनकी दया लोगोंको पाप करनेमें सहायक होती है; बात यह है कि उनका कानून ही ऐसा है जो लोगोंको पापसे बचाता है और दण्ड या पुरस्काररूपसे जो कुछ भी विधान करता है, उसमें उनकी दया पूर्णरूपेण रहती है। घरमें माता-पिता और राष्ट्रमें राजा आदिके जो नियम या कानून होते हैं उनमें भी दया रहती है परन्तु वह दया परिमित है, उसमें कहीं स्वार्थ भी रह

सकता है अथवा भ्रान्तिवश ऐसा विधान भी हो सकता है जो लोगोंके लिये अहितकर हो। राग-द्वेष, अहंकार और अल्पज्ञताके कारण भूल भी हो सकती है, परन्तु श्रीभगवान्में ऐसी कोई बात नहीं है। इसीसे उनका कानून निर्भ्रान्त, शंकारहित, ज्ञानपूर्ण और स्नेहपूरित रहता है। जो मनुष्य ईश्वर-कृपासे श्रीभगवान्के कानूनका रहस्य समझ लेता है, वह तो फिर अपना जीवन उसीके अनुसार चलनेमें लगा देता है। उसमें ईश्वर-प्रेम, निर्भयता, शान्ति और आनन्दकी उत्तरोत्तर अपार वृद्धि होती है और अन्तमें वह श्रीभगवान्को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। अब यह समझना है कि भगवान्के कानूनका स्वरूप क्या है? विचार करनेपर मालूम होता है कि भगवान्की विधिका प्रधान लक्ष्य है—

जीवमात्रकी सर्वांगीण उन्नति और उन्हें परम श्रेयकी प्राप्ति

इसी लक्ष्यतक जीव आसानीसे पहुँच सके, इसीके लिये उनके नियम हैं। उन नियमोंका पालन वास्तवमें उसी मनुष्यके द्वारा सुगमतासे हो सकता है जो ईश्वरमें परम श्रद्धा और परम प्रेम रखता हो। ईश्वरमें परम श्रद्धा और परम प्रेम होनेपर स्वाभाविक ही मनुष्यमें सदाचार और सद्गुणोंकी उत्पत्ति और उनका विकास होता है एवं दुराचार और दुर्गुणोंका सर्वथा विनाश हो जाता है। शास्त्रोंमें जिन्हें सदाचार बतलाया है, वे ही ईश्वरीय कानूनमें सेव्य और पालनीय नियम हैं और जिन्हें दुराचार कहा है, वे ही ईश्वरीय कानूनके निषिद्ध और त्याज्य पदार्थ हैं। संक्षेपमें सदाचार, सद्गुण और दुराचार, दुर्गुणोंका स्वरूप यह है—

अहिंसा, सत्य, तप, त्याग, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, यज्ञ, दान, सेवा, पूजा और महापुरुषोंके आज्ञापालन आदि सदाचार हैं।

दया, पवित्रता, शम, दम, समता, क्षमा, धैर्य, प्रसन्नता, ज्ञान, वैराग्य और निरभिमानता आदि सद्गुण हैं।

हिंसा, असत्य, चोरी, जारी, अभक्ष्य-भक्षण, मादक वस्तु-सेवन, प्रमाद, निन्दा, द्यूत और कटुभाषण आदि दुराचार हैं।

काम, क्रोध, लोभ, अविवेक, अभिमान, दम्भ, मत्सरता, आलस्य, भय और शोक आदि दुर्गुण हैं।

सदाचारसे सद्‌गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा सद्‌गुणोंसे सदाचारकी उत्पत्ति-वृद्धि होती है, इसी प्रकार दुराचारसे दुर्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा दुर्गुणोंसे दुराचारकी उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। ये बीज-वृक्षकी-ज्यों अन्योन्याश्रित हैं।

सदाचार और सद्‌गुणोंका सेवन ही ईश्वरीय कानूनको मानना है और दुराचार और दुर्गुणोंका सेवन ही उस कानूनका भंग करना है। ईश्वरके कानूनको माननेवाला पुरस्कारका पात्र होता है और कानूनको तोड़नेवाला दण्डका पात्र होता है। अवश्य ही उनका दण्ड भी दयासे ओतप्रोत है, इस विषयपर आगे चलकर विचार करना है। यहाँ तो गम्भीरताके साथ यह विचार करना चाहिये कि भगवान्‌के इस कानूनमें कितनी दया—अपरिमित दया भरी है। संक्षेपमें विचार कीजिये। अहिंसाके पालनसे मनुष्य निर्वैर और निर्भय हो जाता है, सत्यके पालनसे सत्यको प्राप्त होता है, चोरी न करनेसे विश्वासका पात्र होता है, ब्रह्मचर्यके सेवनसे उसके तेज और पराक्रममें वृद्धि होती है। परिग्रहके त्यागसे ज्ञान बढ़ता है, यज्ञ-तपसे इन्द्रियोंपर विजय और अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। त्याग, सेवा और महापुरुषोंके आज्ञा-पालनसे सम्पूर्ण दोषोंका नाश, शम-दमादि समस्त सद्‌गुणोंका आविर्भाव और वृद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इस सदाचारके पालनसे लोक-परलोकमें कितना अपरिमित लाभ होता है, यह ईश्वरके कानूनकी ही महिमा है।

अज्ञानके कारण मनुष्य काम-क्रोध-लोभादिके वश होकर असत्य, कपट, चोरी-जारी आदि कुकर्म करके अपना और संसारके जीवोंका अहित करता है। इन दुराचारों और दुर्गुणोंसे अपनी और जगत्‌की बड़ी हानि होती है, सबके सुख-शान्तिका नाश हो जाता है। इसी अधःपतनसे बचानेके लिये भगवान्‌ने

इनको निषिद्ध और त्याज्य बतलाया है। इस निषेधकी आज्ञामें भी उनकी दया भरी है। जो मोहवश भगवान्‌की निषेधाज्ञाको न मानकर कानून-भंगरूपी पाप करते हैं, उनके लिये दयापूर्ण दण्डकी व्यवस्था की गयी है। श्रीभगवान्‌के कानूनमें प्रधानतया जो दण्ड दिया जाता है, उसका स्वरूप यह है—

प्राप्त-विषय-भोगोंका नाश कर देना, भविष्यमें विषय-भोगोंकी प्राप्ति न होने देना या कम होने देना, अथवा विषय-भोगमें अक्षम बना देना।

विचार कीजिये, इस दण्ड-विधानमें कितनी दया भरी है—भोगोंके संसर्गसे कितनी हानि होती है, इसका निम्नलिखित कुछ बातोंपर विचार करनेसे पता लगेगा—

(क) विषयोंके भोगसे आदत बिगड़ती है।

(ख) विषय-भोगोंमें रत मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिके मार्गपर आरूढ़ नहीं हो सकता तथा आरूढ़ हुआ गिर जाता है।

(ग) विषय-भोगोंकी अधिकतासे बीमारियाँ होती हैं, शरीर-सुखका नाश होता है, शरीर क्षयको प्राप्त होता है।

(घ) मन दुर्बल होता है, अन्तःकरण अशुद्ध होता है।

(ङ) विषय-सुख केवल भ्रमसे ही देखनेमें सुख-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह परिणाममें दुःखरूप है।

(च) विषय-सेवनसे पुण्योंका नाश और पापोंकी वृद्धि होती है।

(छ) बिना आरम्भके विषयोंका उपभोग नहीं होता, हिंसा बिना आरम्भ नहीं होता, हिंसासे संसारकी हानि और कर्ताको नरककी प्राप्ति होती है।

ऐसे दुःखरूप विषयोंके संयोगको नाश कर देना, भविष्यमें प्राप्त न होने देना या उन्हें घटा देना एक प्रकारसे वर्तमान और भावी दुःखोंकी प्राप्तिसे बचा लेना है। जैसे आगमें पड़ते हुए पतंगके सामनेसे दीपक हटा लेना या उसको बुझा देना, अथवा उसके पास आते हुए पतंगोंके मार्गमें रुकावट डालना उनपर दया करना है, इसी प्रकार ईश्वर दण्डविधानके रूपमें जीवोंको विषय-

भोगसे वञ्चित करके उनपर महान् दया करते हैं।

कभी-कभी ईश्वर जीवके पूर्व-पापोंके कारण उनके स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुओंका वियोग न कराकर उनके द्वारा उसकी इच्छाके विरुद्ध इस प्रकारके आचरण करवाते हैं, जिनसे उसको दुःखरूप फल मिलता है। इसमें पापका फल दुःख भोगनेसे पापका नाश तो है ही, साथ ही स्त्री-पुत्रादिके मनके विपरीत आचरण करने या उनके द्वारा अपमानित होनेसे उनके प्रति मनमें स्नेह-ममता हटकर एक प्रकारकी विरक्ति उत्पन्न होती है, विरक्तिसे चित्तकी वृत्ति उपराम होकर किसी-किसीको तो परमात्माके मार्गमें लग जानेके कारण शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

किसी-किसीको पापोंके फलस्वरूप ईश्वर बीमारी आदि देते हैं, जिससे दुःखी हुआ मनुष्य करुण-स्वरमें आर्तनाद करता है, कोई-कोई तो आर्त होकर भगवान्से दुःखनिवारणार्थ गजराजकी भाँति प्रार्थना करते हैं। जिसके द्वारा वे दुःखसे मुक्त तो होते ही हैं साथ ही भगवान्की भक्ति भी पा जाते हैं।

पापोंके फलस्वरूप किसी-किसीकी श्रीभगवान् मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका नाश कर देते हैं, इससे उसका वस्तुतः बड़ा ही उपकार होता है। क्योंकि मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाका रोग बहुत अच्छे-अच्छे बुद्धिमान् पुरुषोंको भी पतनके गढ़ेमें डाल देता है। अज्ञानी जीव मान-बड़ाईरूपी जहरीले भावोंको सुन्दर सुहावने समझकर उनसे लिपटे रहते हैं। दयामय परमात्मा दया करके उनके कल्याणके लिये इनका नाश करते हैं। मान-बड़ाईके सुखका नाश करना एक प्रकारसे शापके रूपमें महान् वरदान है। क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गकी मान-बड़ाईरूपी भारी बाधा इससे हट जाती है।

किसी-किसीके पूर्व-पापोंके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्राका निर्वाह भी कठिनतासे होता है। उसे पर्याप्त अन्न-वस्त्र नहीं मिलता, इससे वह दुःखी और आर्त होकर भगवान्को पुकारता है। इसके सिवा वह आलस्य और अभिमान-को त्यागकर—अकर्मण्यता और अहंकारको छोड़कर अनेक प्रकारके परिश्रम

और उद्यम करनेको तैयार हो जाता है, जिससे उसकी अकर्मण्यता मिटती है, झूठा बड़प्पन, आलस्य और अभिमान नष्ट होता है।

इस प्रकार ईश्वरके प्रत्येक दण्ड-विधानमें ईश्वरकी अपार दया भरी है। जैसे रत्नोंके गहरे समुद्रमें डुबकी लगानेसे एक-से-एक बढ़कर रत्न मिलते हैं, वैसे ही विचारद्वारा श्रीभगवान्‌के दण्ड-विधानरूपी दयाके सागरमें डुबकी लगानेपर इस लोक और परलोकके हितकारक अनेक अमूल्य रत्न मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरका कानून और उसका दण्ड-विधान दयासे परिपूर्ण है।

संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल दो पदार्थ हैं। मनुष्य अपने अनुकूल पदार्थकी प्राप्तिमें ईश्वरकी दया समझता है, सुख-शान्तिको प्राप्त होता है तथा उस पदार्थसे प्रेम करता है। प्रतिकूलमें मूर्खताके कारण ईश्वरका कोप समझता है, अशान्ति और शोकको प्राप्त होता है एवं उससे द्वेष करता है। परन्तु जो पुरुष उस सर्वशक्तिमान् दयामय सर्वज्ञ परम सुहृद् परमात्माके तत्त्वको जानता है, वह शोक और मोहसे तरकर परम शान्ति और निर्भयताको प्राप्त हो जाता है। ईश्वरके कानूनका रहस्य समझकर तो मनुष्य उसपर मुग्ध हो जाता है। ईश्वरका प्रत्येक नियम पापियोंके पाप और दुखियोंके दुःखको नाश करनेवाला है। वह पापोंकी वृद्धिमें सहायक नहीं है, जो पुरुष तत्त्व समझे बिना ही ईश्वरको दयालु समझकर ईश्वर-दयाके भरोसेपर नये-नये पापाचरण करता है, उसके पाप तो इतने वज्रलेप हो जाते हैं कि फिर वे जप, ध्यान आदि प्रायश्चित्तोंसे भी भोगे बिना प्रायः नाश नहीं होते। बल्कि भजन-ध्यान होनेमें भी वे पाप प्रतिबन्धकरूप हो जाते हैं।

ईश्वरकी दया और न्यायके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें अपरिमित सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, उनका वह दर्शन उन अज्ञोंकी अपेक्षा, जो विषय-भोगोंकी प्राप्तिमें सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, अत्यन्त ही विलक्षण होता है। वे समझते हैं कि—

१-यह अपने परम प्रेमी न्यायकारी दयालु ईश्वरका किया हुआ विधान है।

२-प्रतिकूल पदार्थ, जो जगत्की दृष्टिमें दुःख कहलाते हैं, प्राप्त होते हैं, तब पापोंके ऋणानुबन्धसे मुक्ति मिलती है।

३-व्याधि आदिको परम तप समझकर भोगनेसे पापोंका नाश होता है, अन्तःकरण स्वर्ण-सदृश विशुद्ध और निर्मल हो जाता है।

४-भविष्यमें निषिद्ध पापकर्म न करनेकी ईश्वरीय आज्ञाका पालन करनेमें सावधानी होती है, इससे आगामी पापोंका नाश हो जाता है। भोगसे पूर्वकृत पापोंके प्रारब्धका नाश हो गया, वर्तमानमें तप समझकर पापोंका फल भोगनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो गया, वर्तमानमें पाप नहीं हुए और सञ्चित पापोंका नाश हुआ तथा निषिद्ध कर्मोंके त्यागसे भविष्यके पाप मिट गये, इस प्रकार वह पापोंसे सर्वथा रहित होकर परमात्माका प्रेमी बन जाता है। आपत्तिकालमें आस्तिक पुरुषोंको ईश्वरकी स्मृति अधिक होती है, ईश्वर-स्मरणसे बढ़कर ईश्वर-प्राप्तिका कोई सुलभ साधन दूसरा नहीं है, इसीलिये तो किसी भक्तने कहा है—

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल पल नाम जपाय॥

अतएव हम सबको श्रीभगवान्के कानूनका रहस्य समझकर उसके अनुसार चलना चाहिये। माता, पिता, गुरु और स्वामी आदिके कानूनके अनुकूल चलनेसे उनके अधिकारमें जो परिमित पदार्थ हैं, वही हमें मिल सकते हैं, परन्तु दयामय ईश्वरके कानूनके अनुकूल चलनेसे हम समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमात्माके उस परमपदको प्राप्त हो सकते हैं जो मनुष्य-जीवनका सर्वोपरि प्रधान उद्देश्य है।

(३) ईश्वर-प्रेम ही विश्व-प्रेम है

ईश्वर अनन्त और असीम हैं, चराचर विश्व ईश्वरके एक अंशमें उनके

संकल्पके आधारपर स्थित है। ईश्वर अपनी योगमायाके प्रभावसे विश्वकी रचना और उसका विनाश करते हैं। जब ईश्वर संकल्प करते हैं, विश्व उत्पन्न हो जाता है और जब संकल्पका त्याग करते हैं तब विश्व नष्ट या तिरोहित हो जाता है। स्वप्न-स्थित पुरुष जिस प्रकार अपने अंदर संकल्पबलसे स्वप्न-सृष्टिकी रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर आत्मरूपमें व्याप्त रहते हुए ही संसारको रचते हैं। भेद इतना ही है कि स्वप्नद्रष्टा पुरुष अज्ञानमें स्थित और पराधीन होता है; परन्तु ईश्वर ज्ञानस्वरूप और सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। अतएव उन अनन्त चेतन परमेश्वरके किसी एक अंशमें यह संसार वैसे ही प्रतिभासित है जैसे अनन्त आकाशके किसी एक देशमें तारा चमकता है। आकाशकी तुलना केवल समझानेके लिये है, वस्तुतः आकाशकी अनन्तता अल्प है और वह देश-कालसे परिमित है, पक्षान्तरमें परमेश्वरकी अनन्तता उनके देश-कालसे रहित होनेके कारण सर्वथा अपरिमित है, आकाशकी अनन्तता तो उसी प्रकार परमेश्वरके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत है जिस प्रकार स्वप्नकी सृष्टि स्वप्नद्रष्टा पुरुषके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत होती है। ईश्वरकी अनन्तता किसी भी सांसारिक दृष्टान्तसे नहीं समझायी जा सकती, क्योंकि ईश्वरके सदृश संसारमें कोई पदार्थ है ही नहीं। यह समस्त अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड परमात्माके एक रोममें स्थित है, वास्तवमें जिन ईश्वरका यहाँ वर्णन किया जाता है, वे निरवयव होनेके कारण रोमयुक्त नहीं हैं। पर क्या किया जाय, लौकिक बुद्धिको समझानेके लिये इन लौकिक पदार्थोंके अतिरिक्त और साधन ही क्या है ? अतएव ईश्वरका कोई भी तत्त्व, जो किसी सांसारिक उदाहरणके द्वारा समझाया जाता है, वह उनका एक अंशमात्र ही होता है। वस्तुतः अंशमात्रका समझाना भी समीचीनरूपसे नहीं होता। इसलिये यही मानना पड़ता है कि ईश्वरके तत्त्वको समझना और समझाना अत्यन्त ही दुष्कर है, वह तो अनुभवरूप है, अति गम्भीर और रहस्यमय है, भगवत्कृपासे ही जाना जाता है। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।

(२।२९)

'कोई (महापुरुष) ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही दूसरा कोई (महापुरुष) ही आश्चर्यकी ज्यों (इसके तत्त्वको) कहता है।'

इस प्रकार जो महापुरुष ईश्वरके तत्त्वका अनुभव कर लेते हैं वे भी जब दूसरोंको सहजमें नहीं समझा सकते, तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? समझाना वाणीका विषय है। बुद्धिके द्वारा ईश्वरके तत्त्वका जितना अनुभव होता है, उतना वाणी कह ही नहीं सकती और वास्तवमें तो ईश्वरका तत्त्व बुद्धिमें भी पूर्णरूपेण नहीं आ सकता। तथापि महापुरुषोंद्वारा जो कुछ कहा जाता है उससे उस तत्त्वका समझना सहज हो सकता है; परन्तु उनसे सुननेवाले मनुष्य भी श्रद्धा, प्रेम, एकाग्रता और बुद्धिकी तीक्ष्णता तथा पवित्रतामें कमी रहनेके कारण यथार्थ समझ नहीं पाते। इसी कारण यह विषय समझने-समझानेमें अत्यन्त ही कठिन है। परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि उस अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें प्रकृति या माया है और उस मायाके किसी अंशमें यह समस्त चराचर विश्व है। इस अवस्थामें ईश्वरके प्रति किया जानेवाला प्रेम स्वाभाविक ही समस्त विश्वके प्रति हो जाता है। क्योंकि ईश्वर ही विश्वके आधार हैं, ईश्वर ही विश्वके आत्मा हैं, ईश्वर ही विश्वमें व्याप्त हैं और ईश्वर ही विश्वके एकमात्र (अभिन्न निमित्तोपादान) कारण हैं; वे अंशी हैं और यह समस्त विश्व उनका अंश है, या यों कहिये कि उनका अङ्ग है। श्रीभगवान्‌ने स्वयं अर्जुनसे कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

(गीता १०।४२)

'अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्‌को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

****

भगवान्‌के उपर्युक्त वाक्योंका अभिप्राय समझ लेनेपर यह निश्चय हो जाता है कि यह समस्त जगत् भगवान्‌के एक अंशमें स्थित है, भगवान् ही इस जगत्-रूपसे अभिव्यक्त हो रहे हैं, ऐसी स्थितिमें भगवत्प्रेमीका स्वाभाविक ही जगत्‌के साथ अकृत्रिम प्रेम होता है। जिस मनुष्यने सोनेके तत्त्वको समझ लिया, उसका सोनेके आभूषणोंके साथ निश्चय ही प्रेम होता है, वह फिर कभी उनकी अवहेलना नहीं कर सकता, यह प्रत्यक्ष प्रमाणित है; यदि करता है तो वह स्वर्णके तत्त्वको नहीं जानता, इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्म-प्रेमी पुरुष जगत्‌के जीवोंकी कदापि अवहेलना नहीं कर सकता।

जो मनुष्य किसी एक पूज्य पुरुषके सारे अङ्गोंकी श्रद्धा और प्रेमसे पूजा करता हो, वह उस पूज्य पुरुषके किसी एक उपाङ्गको जला दे या किसी एक अङ्गको काट डाले चाहे वह कितना ही छोटा हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योंकि उसके लिये तो पूज्य पुरुषका प्रत्येक अङ्ग ही पूज्य और प्रिय होता है। इसी प्रकार परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला परमात्माका प्रेमी पुरुष अपने आराध्यदेव परमात्माके अंश या अङ्गरूप किसी जीवके साथ क्या कभी द्वेष कर सकता है, क्या कभी उसका अहित कर सकता है या उसको दुःख पहुँचा सकता है ? कदापि नहीं। अतएव जो मनुष्य ईश्वरका प्रेमी है, वह स्वाभाविक ही विश्वका प्रेमी है। जैसे पूज्य पुरुषके सब अङ्गोंको प्रेमसे पूजकर भी जो उनके किसी एक अङ्गको जलाता है, वह भक्त, प्रेमी या सच्चा पुजारी नहीं है, वैसे ही भगवान्‌से प्रेम करनेवाला पुरुष भी यदि किसी भी जीवका किञ्चित् भी अहित करता है या उसे कष्ट पहुँचाता है तो वह न परमात्माका भक्त है, न प्रेमी है और न सच्चा पुजारी ही है। असलमें उसने परमात्माका तत्त्व ही नहीं समझा है।

तत्त्वका ज्ञाता तो विश्वका स्वाभाविक प्रेमी होगा ही, परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि केवल विश्वप्रेम ही ईश्वरप्रेम है; क्योंकि विश्वके परे भी

परमात्माका स्वरूप अनन्त और अपार है; विश्व उस परमात्माके एक अंशमें होनेके नाते विश्वप्रेम भी ईश्वरप्रेमके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः विश्वसहित समग्र परमात्माके साथ होनेवाला प्रेम ही ईश्वरप्रेम है।

परमेश्वरकी दो प्रकृति हैं— एक जड और दूसरी चेतन। इन्हींको भगवान्‌ने गीतामें अपरा और परा प्रकृति कहा है। इनमें आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, मन, बुद्धि और अहंकार—ऐसे आठ प्रकारवाली अपरा प्रकृति जड है, जिसका यह चौबीस विकारोंवाला जड शरीर है और जीवात्मा परा प्रकृति है जिसको चेतन कहते हैं और जिसने उपर्युक्त अष्टधा अपरा प्रकृतिको धारण कर रखा है। शरीरयुक्त इस जीवके भी दो भेद हो जाते हैं—चर और अचर। मनुष्य, पशु पक्षी आदि चर हैं और वृक्ष-लता आदि अचर हैं; उपर्युक्त दोनों प्रकृतियोंसे संयुक्त संसारको ही विश्व कहते हैं; इस विश्वके साथ जो मनुष्य किसी हेतुको लेकर प्रेम करता है, वह भी ईश्वरके साथ ही प्रेम करता है, परन्तु उसका वह प्रेम क्षुद्र है। किसी भी हेतुसे किया जानेवाला प्रेम हेतुकी पूर्ति होनेके साथ ही समाप्त हो जाता है, इसीलिये वह देश-कालसे सीमित होने और फलकी अल्पताके कारण क्षुद्र कहा जाता है। विशाल अनन्य ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत तो वह विश्व-प्रेम आ सकता है जो परमात्माके तत्त्वको जानकर इस जड-चेतन विश्वके साथ निःस्वार्थभावसे किया जाता है। यद्यपि इसमें भी देश-कालकी परिमितता है तथापि यह तत्त्वज्ञानयुक्त और निष्काम होनेके कारण देशकालावच्छिन्न होनेपर भी सच्चा और सराहनीय माना जाता है। वास्तविक और सर्वोत्कृष्ट ईश्वर-प्रेम तो वही है जो इस जड-चेतन जगत्‌सहित, देशकालरहित अपरिमित परमात्मामें बिना किसी हेतुके होता है!

अब यह समझना है कि चेतन और जड-जगत्‌के साथ—परा और अपरा प्रकृतिके साथ किस प्रकारका प्रेम करना चाहिये।

चेतनके साथ प्रेम

१- मनुष्यादि मुक्तिके अधिकारी जीवोंको, इस लोक और परलोकके

****

यथार्थ अभ्युदय और परम कल्याणके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे हेतुरहित सहायता पहुँचाना।

२- पशु, पक्षी आदि जीवोंको, जिनको आत्मज्ञानकी प्राप्ति विधेय नहीं है, इस लोकमें रक्षा, वृद्धि और उनके हितके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे हेतुरहित सहायता करना।

३-इसी प्रकारका वृक्ष-लता आदिके साथ स्वार्थरहित हित-व्यवहार करना।

जडके साथ प्रेम

जो पदार्थ जीवोंके लिये उपयोगी हैं और उत्तम गुण तथा कर्मोंकी वृद्धिमें सहायक हैं, उन पदार्थोंकी उन्नति, वृद्धि और रक्षाके लिये चेष्टा करना और आसक्ति तथा कामनाको त्यागकर लोक-शिक्षाके लिये उनका यथायोग्य प्रयोग करना।

जो पदार्थ जीवोंके लिये अहितकारक हैं और दुर्गुण तथा दुष्कर्मोंको बढ़ानेवाले हैं उनके घटाने और नष्ट करनेके लिये प्रयत्न करना और द्वेष तथा कामनाको त्यागकर लोकसंग्रहार्थ उनका यथोचितरूपसे सर्वथा त्याग करना।

जिस प्रकार उपयोगी पदार्थोंकी वृद्धि, रक्षा और उपयोगमें उनके साथ प्रेम करना है, इसी प्रकार हानिकारक पदार्थोंके क्षय और त्यागमें भी उनके साथ प्रेम करना है, हानिकारक पदार्थोंका अस्तित्व न रहनेमें ही हित है और हितकी चेष्टा ही प्रेम है।

इसी प्रकार मन, बुद्धि, अहंकार और समस्त इन्द्रियाँ आदिको दुराचार, दुर्गुण और भोग-विषयोंसे हटाकर सद्‌गुणोंकी वृद्धिके लिये उन्हें ईश्वर-भक्तिमें—ईश्वर-सम्बन्धी विषयोंमें लगाना उनके साथ प्रेम करना है।

यह प्रेम साधकको ईश्वरकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध पुरुषोंको लोक-संग्रहके लिये करना चाहिये।

यह विश्व-प्रेम ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत है, ईश्वरमें प्रेम होनेपर यह आप ही

हो जाता है, अतएव मनुष्यमात्रको ईश्वरके प्रति विशुद्ध और अनन्य प्रेम करनेके लिये प्राणपर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये। इस ईश्वर-प्रेमके कुछ साधन निम्नलिखित हैं—

१- ईश्वरके गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यकी अमृतमयी कथाओंका श्रवण, मनन और पठन-पाठन।

२- भगवान्में श्रद्धा और निष्काम प्रेम करनेवाले पुरुषोंका सङ्ग।

३- भगवान्के स्वरूपको याद रखते हुए प्रेमपूर्वक उनके नामका जप और कीर्तन।

४- भगवान्की आज्ञाका पालन और प्रत्येक सुख-दुःखको भगवान्का विधान समझकर प्रसन्नचित्त रहना।

५- सम्पूर्ण जीवोंको भगवान्का अंश मानकर सबके हितके लिये कोशिश करना।

६- ईश्वरके तत्त्वको जानने और उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये उत्कण्ठित रहना।

७- एकान्तमें करुणभावसे ईश्वर-प्रार्थना करना।

इस प्रकार साधन करनेसे ईश्वरमें अनन्य विशुद्ध प्रेम होकर ईश्वरकी साक्षात् प्राप्ति होती है। फिर जड-चेतन संसारमें तो उसका हेतुरहित प्रेम होना अनिवार्य ही है। ऐसे तत्त्वके जाननेवाले प्रेमी भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

'जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित

****

दयालु है एवं जो ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम तथा क्षमावान् यानी अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है, जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वर-प्रेम ही विश्व-प्रेम है।

ईश्वरमें विश्वास

ईश्वरके विषयमें जो प्रश्न किये गये हैं उनको सुनकर मुझको आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि यह विषय बुद्धिकी पहुँचके बाहरका है। आश्चर्य तो इसमें मानना चाहिये कि जो ईश्वरको मानते हुए भी नहीं मानते। ईश्वरके तत्त्वको न जानकर ईश्वरको माननेवाले कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, कर्मफलदाता, सत्य-विज्ञान-आनन्दघन है, इस प्रकार ईश्वरके स्वरूपको बतलाते हैं, पर ईश्वरके निर्माण किये हुए नियमोंका पालन नहीं करते। ऐसे पुरुषोंका मानना केवल कथनमात्र है, ऐसे ही मनुष्योंकी मूर्खताका यह फल है कि आज संसारमें ईश्वरके अस्तित्वमें सन्देह किया जाता है। ईश्वरको सर्वथा न माननेवालोंकी अपेक्षा अन्धश्रद्धासे भी ईश्वरके माननेवालोंको उत्तम समझता हुआ ही मैं उनकी निन्दा इसलिये करता हूँ कि ऐसे अन्धश्रद्धावाले मनुष्य भी अनीश्वरवादके प्रचारमें एक प्रधान कारण हुए हैं। जो वास्तवमें ईश्वरको समझकर ईश्वरको मानते हैं, उन्हींका मानना सराहनीय है। क्योंकि जो ईश्वरके तत्त्वको जान जाता है उसके आचरण परमेश्वरकी मर्यादाके प्रतिकूल नहीं होते, प्रत्युत उसीके आचरण प्रमाण-भूत और आदरणीय होते हैं। भगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं।' ऐसे पुरुष ही ईश्वरवादके सच्चे प्रचारक हैं, मैं तो एक

साधारण पुरुष हूँ। यद्यपि ईश्वर-विषयक प्रश्नोंके उत्तर देनेमें मैं असमर्थ हूँ, तथापि पाठकोंके लिये साधु पुरुषोंके सङ्ग और अपने विचारसे उत्पन्न हुए भावोंका अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार कुछ अंश अपने मनोविनोदके लिये उनकी सेवामें रखता हूँ। सज्जनगण मुझे बालक समझकर मेरी त्रुटियोंपर क्षमा करेंगे। ईश्वरका विषय बड़ा गहन और रहस्यपूर्ण है, इस विषयमें बड़े-बड़े पण्डितजन भी मोहित हो जाते हैं, फिर मुझ-सरीखे साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है।

१-(क) ईश्वर बिना ही कारण सबपर दया करता है, प्रत्युपकारके बिना न्याय करता है और सबको समान समझकर सबसे प्रेम करता है। इसलिये उसको मानना कर्तव्य है और कर्तव्य पालन करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है।

(ख) ईश्वरको माननेसे उसकी प्राप्तिके लिये उसके गुण, प्रेम, प्रभावको जाननेकी खोज होती है और उसके नामका जप, स्वरूपका ध्यान, गुणोंके श्रवण-मननकी चेष्टा होती है, जिससे मनुष्यके पापों, अवगुणों एवं दुःखोंका नाश होकर उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

(ग) अच्छी प्रकारसे समझकर ईश्वरको माननेसे मनुष्यके द्वारा किसी प्रकारका दुराचार नहीं हो सकता। जिन पुरुषोंमें दुराचार देखनेमें आते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरको मानते ही नहीं हैं। झूठे ही ईश्वरवादी बने हुए हैं।

(घ) सच्चे हृदयसे ईश्वरको माननेवालोंकी सदासे जय होती आयी है। ध्रुव-प्रह्लादादि-जैसे अनेकों ज्वलन्त उदाहरण शास्त्रोंमें भरे हैं। वर्तमानमें भी सच्चे हृदयसे ईश्वरको मानकर उसकी शरण लेनेवालोंकी प्रत्यक्ष उन्नति देखी जाती है।

(ङ) सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रोंकी सार्थकता भी ईश्वरके माननेसे ही सिद्ध होती है। क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रोंका ध्येय ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

(महा० स्वर्गारोहण० अ० ६)

इसी प्रकार ईश्वरको माननेसे और भी अनन्त लाभ हैं।

२—(क) कर्मोंके अनुसार फल भुगतानेवाले सर्वव्यापी परमात्माकी सत्ता न माननेसे मनुष्यमें उच्छृङ्खलता बढ़ती है। उच्छृङ्खल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी-जारी, हिंसादि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है, जिसके परिणाममें वह और महादुःखी बन जाता है।

(ख) ईश्वरको न माननेसे ईश्वरके तत्त्वज्ञानकी खोज नहीं हो सकती और तत्त्वज्ञानकी खोजके बिना ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान नहीं होता और ज्ञान बिना कल्याण नहीं हो सकता।

(ग) ईश्वरको न माननेसे कृतघ्नताका दोष आ जाता है, क्योंकि जो पुरुष सर्व संसारके उत्पन्न तथा पालन करनेवाले सबके सुहृद् उस परमपिता परमात्माको ही नहीं मानते, वह यदि अपनेको जन्म देनेवाले माता-पिताको भी न मानें तो क्या आश्चर्य है ? और जन्मसे उपकार करनेवाले माता-पिताको न माननेवालेके समान दूसरा कौन कृतघ्न है ?

(घ) ईश्वरको न माननेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक स्थिति नष्ट हो जाती है और उसमें पशुपन आ जाता है। संसारमें जो लोग ईश्वरको नहीं माननेवाले हैं, गौर करके देखनेसे उनमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है।

इसी प्रकार ईश्वरको न माननेमें अन्य अनेकों महान् हानियाँ हैं, पर विस्तारके भयसे अधिक नहीं लिखा गया।

३— ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण पूछना कोई आश्चर्यजनक बात या बुद्धिमत्ता नहीं है। इस विषयमें प्रश्न करना साधारण है। स्थूल बुद्धिसे न समझमें आनेवाले विषयमें समझदार पुरुषोंको भी शङ्का हो जाती है, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? परन्तु विचारनेकी बात है कि जो परमात्मा स्वतः प्रमाण है और जिस परमात्मासे ही सब प्रमाणोंकी सिद्धि होती है उसके विषयमें प्रमाण पूछना आश्चर्य भी है, जैसे किसी मनुष्यका अपने

ही सम्बन्धमें शङ्का करना कि 'मैं हूँ या नहीं' व्यर्थ है, वैसे ही ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें पूछना है। यदि कहो कि 'मैं तो प्रत्यक्ष हूँ ईश्वर तो ऐसा नहीं है' सो यह कहा तो जा सकता है, परन्तु असल बात तो यह है कि परमात्मा इससे भी बढ़कर प्रत्यक्ष है। कोई पूछे कि 'हमसे बढ़कर परमात्माकी प्रत्यक्षता कैसे है ?' इसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न-अवस्थाके अनुभव किये हुए पदार्थ जाग्रत्-अवस्थामें नहीं रहते, इसी बातको लेकर यह शङ्का हो सकती है कि यह जाग्रत्-अवस्थामें दीखनेवाले पदार्थ भी किसीका स्वप्न हो, क्योंकि स्वप्नके पदार्थोंका स्वप्न-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, वैसे ही जाग्रत्-अवस्थाके पदार्थोंका जाग्रत्-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, परन्तु जिससे इन सबकी सत्ता है और जो सबके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता, जो सबका आधार और अधिष्ठान है, उस निर्विकार परमात्माकी प्रत्यक्षता हमारे व्यक्तिगत अस्तित्वकी अपेक्षा बहुत विशेष है, पर इस प्रकारकी प्रत्यक्षता उन्हीं महात्मा पुरुषोंको होती है कि जिनकी महिमा सब शास्त्र गाते हैं। जो सूक्ष्मदर्शी हैं वे ही सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं। इस विषयमें श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्र और महात्मा पुरुषोंके वचन प्रमाण हैं। जिनको स्वयं साक्षात् करनेकी इच्छा हो वे श्रुति, स्मृति तथा महात्मा पुरुषोंके बताये हुए मार्गके अनुसार साधनके लिये प्रयत्न करनेसे परमात्माको प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परमात्माके अस्तित्वकी सिद्धिमें युक्तिप्रमाण भी हैं। कार्यकी सिद्धिसे कारणके निश्चय करनेको युक्तिप्रमाण कहते हैं। संसारमें किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति और उसका सञ्चालन किसी कर्ताके बिना नहीं देखा जाता। इसीसे यह निश्चय होता है कि पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा और काल आदिकी रचना और नियमानुसार उनका सञ्चालन करनेवाली कोई बड़ी भारी शक्ति है, उसी शक्तिको परमात्मा समझना चाहिये। यदि कहो, 'बिना कर्ताके प्रकृतिसे ही अपने-आप सब उत्पन्न हो जाते हैं इसमें कर्ताकी कोई आवश्यकता नहीं, जैसे

****

वृक्षसे बीज और बीजसे वृक्ष अपने-आप ही उत्पन्न होते हुए देखनेमें आते हैं, सो ठीक है, किन्तु यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम तो यह बात विचारनी चाहिये कि पहले बीजकी उत्पत्ति हुई या वृक्षकी ? यदि वृक्षकी कहो तो वृक्ष कहाँसे आया ? और बीजकी कहो तो बीज कहाँसे आया ? यदि दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ कहो तो किसके द्वारा किससे हुई ? क्योंकि बिना किसी कारणके कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। जिससे और जिसके द्वारा बीज, वृक्ष आदिकी उत्पत्ति हुई है वे ही परमात्मा हैं।

दूसरा प्रश्न होता है कि यह प्रकृति जड है या चेतन। यदि जड कहो तो चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिके बिना किसी पदार्थका उत्पन्न और सञ्चालन होना सम्भव नहीं और यदि चेतन कहो तो फिर हमारा कोई विरोध नहीं; क्योंकि चेतन-शक्ति ही परमात्मा है, जिनके द्वारा इस संसारकी उत्पत्ति हुई है। केवल संसारकी उत्पत्ति ही नहीं, चेतनकी सत्ता बिना इस संसारका सञ्चालन भी नियमानुसार नहीं हो सकता। बिना यन्त्रीके किसी छोटे-से-छोटे यन्त्रका भी सञ्चालन होता नहीं दिखायी देता। किसी भी कार्यका सञ्चालन हो, बिना सञ्चालकके वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है अतएव जिससे इस संसारका नियमानुसार सञ्चालन होता है, उसीको परमात्मा समझना चाहिये। जीवोंके किये हुए कर्मोंके फलोंका भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, परमात्माके बिना यथायोग्य भुगताया जाना सम्भव नहीं है, यदि कहो 'कर्मोंके अनुसार कर्ता पुरुषको किये हुए कर्मोंका फल अपने-आप मिल जाता है, तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि कर्म जड होनेके कारण उनमें यथायोग्य फल-विभाग करनेकी शक्ति नहीं है और जीव बुरे कर्मोंका फल दुःख स्वयं भोगना चाहता नहीं। चोर चोरी करता है और चोरीके अनुसार राजा उसे दण्ड देता है; परन्तु न तो वह चोर जेलखानेमें स्वयं जाता है और न वह चोरीरूप कर्म ही उसे जेल पहुँचा सकता है। राजाकी आज्ञासे नियत किये हुए अधिकारी लोग ही चोरीके अपराधके अनुसार उसे जेलका दण्ड देते हैं, इसी प्रकार पाप-

कर्म करनेवाले पुरुषोंको परमेश्वरके नियत किये हुए अधिकारी देवता पाप-कर्मोंका दुःखरूप दण्ड देते हैं। ऐसे ही यह जीव किये हुए सुकृत-कर्मोंका फलरूप सुख भोगनेमें भी असमर्थ है। जैसे कोई राजाके कानूनके अनुसार चलनेवाले व्यक्तिको राजा या उनके नियत किये हुए पुरुषोंद्वारा कर्मोंके अनुसार नियत किया हुआ ही पुरस्कार मिलता है, उसी प्रकारसे सुकृत कर्म करनेवाले पुरुषोंको भी उनके कर्मोंके अनुसार परमेश्वरद्वारा नियत किया हुआ फल मिलता है।

अज्ञानके द्वारा मोहित होनेके कारण जीवोंको अपने कर्मोंके अनुसार स्वतन्त्रतासे एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेका सामर्थ्य और ज्ञान भी नहीं है।

इसके सिवा सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना बिना किसी परम बुद्धिमान् चेतन कर्ताके नहीं हो सकती।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यही बात सिद्ध होती है, कि परमेश्वरके बिना न तो संसारकी उत्पत्ति सम्भव है, न सञ्चालन हो सकता है, न जीवोंको उनके कर्मफलका यथायोग्य फल प्राप्त हो सकता है और न सप्रयोजन सृष्टि हो सकती है।

ईश्वर 'स्वतःप्रमाण' प्रसिद्ध है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि ईश्वरके प्रमाणसे ही सिद्ध होती है, इसलिये उसमें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं।

ईश्वरके होनेमें शास्त्र भी प्रमाण हैं, सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंका तात्पर्य भी ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है। इसके लिये जगह-जगह असंख्य प्रमाण देख सकते हैं।

यजुर्वेद—

ईशावास्यमिदँ् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

(४०।१)

'इस जगत्में जो कुछ भी है वह सब-का-सब ईश्वरसे व्याप्त है।'

****

ब्रह्मसूत्र—

'जन्माद्यस्य यतः।' 'शास्त्रयोनित्वात्॥

(१।२-३)

'जिससे उत्पत्ति, स्थिति और पालन होता है, वह ईश्वर है। शास्त्रका कारण होनेसे अर्थात् जो शास्त्रका उत्पादक है तथा शास्त्रद्वारा प्रमाणित है, वह ईश्वर है।'

गीता—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

(१५।१५)

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(१८।६१)

'हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(१३।१७)

'वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति एवं मायासे अति परे कहा जाता है

तथा परमात्मा बोधस्वरूप और जाननेयोग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है।'

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(१५।१७)

'उन (क्षर, अक्षर) दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा, ऐसे कहा गया है।'

योगदर्शन—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(समाधिपाद २४-२६)

'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (मरणभय)—इन पाँच क्लेशोंसे, पाप-पुण्य आदि कर्मोंसे, सुख-दुःखादि भोगोंसे और सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित पुरुषविशेष (पुरुषोत्तम) ईश्वर है। उस परमेश्वरमें सर्वज्ञताका कारण ज्ञान निरतिशय है। वह पूर्वमें होनेवाले ब्रह्मादिका भी उत्पादक और शिक्षक है; क्योंकि कालके द्वारा उसका अवच्छेद नहीं होता।'

उपनिषद्—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म।

(तैत्तिरीय० ३।१)

'जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं तथा उत्पन्न हुए प्राणी जिसके अनुग्रहसे जीते हैं और मृत्युके पश्चात् जिसमें लीन होते हैं, उसको तू जान, वह ब्रह्म है।'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वेता० ६ । ११)

'एक ही देव (परमात्मा) सब भूतोंके अन्तस्तलमें विराजमान है, वह सर्वव्यापी है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है। वही कर्मोंका अध्यक्ष, सब भूतोंका निवासस्थान, साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है।'

भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः ॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥

(४ । ७ । ५०-५१)

'हे ब्राह्मण ! मैं ही ब्रह्मा हूँ, शिव हूँ और जगत्‌का परम कारण हूँ। मैं ही आत्मा और ईश्वर हूँ, अन्तर्यामी हूँ, स्वयं प्रकाश हूँ तथा निर्गुण हूँ। मैं अपनी त्रिगुणमयी मायामें समाविष्ट होकर विश्वका पालन, पोषण और संहार करता हुआ क्रियानुसार नाम धारण करता हूँ।'

महाभारत अनुशासनपर्वके १४९वें अध्यायमें कहा है—

अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम् ॥ ७ ॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥ ९ ॥

पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता॥ १०॥

'उस अनादि, अनन्त, सर्वलोकव्यापक, सर्वलोकमहेश्वर, सब लोकोंके अध्यक्षकी सदा स्तुति करनेवाला सब दुःखोंको लाँघ जाता है।' 'जो परम ब्रह्मण्य, सब धर्मोंको जाननेवाले, लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकनाथ, सर्वभूतोंको उत्पन्न करनेवाले महान् भूत हैं।' 'जो तेजके परम और महान् पुञ्ज हैं, जो बड़े-से-बड़े तपोरूप हैं, जो परम महान् ब्रह्मरूप हैं और जो बड़े-से-बड़े श्रेष्ठ आश्रय हैं।' 'जो पवित्र वस्तुओंमें सबसे अधिक पवित्र हैं, जो मङ्गलोंके भी मङ्गलरूप हैं, जो देवताओंके परम देवता हैं और जो प्राणिमात्रके अविनाशी पिता हैं।'

वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड—

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः।
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः॥

(११७। ६, १४)

ब्रह्मा कहते हैं, 'हे राघव! आप समस्त लोकोंके कर्ता, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ विभु हैं। आप ही सब लोकोंके आदि, मध्य, अन्तमें विराजित अक्षर ब्रह्म और सत्य हैं, आप सब लोकोंके परमधर्म विष्वक्सेन चतुर्भुज हरि हैं।'

जैन, बौद्ध और चार्वाक् आदि कतिपय मतोंको छोड़कर ऐसा कोई भी वेद-शास्त्र नहीं है, जिसमें ईश्वरका प्रतिपादन न किया गया हो। यहाँतक कि मुसलमान, ईसाई आदि भी ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं। यथा—

कुरान—पूर्व और पश्चिम सब खुदाके ही हैं, तुम जिधर भी अपना मुँह घुमाओगे, उधर ही खुदाका मुख रहेगा। खुदा वास्तवमें अत्यन्त ही उदार है, सर्वशक्तिमान् है।

ईसाने कहा है—जिसका ईश्वरमें विश्वास है तथा जो भगवान्‌की शक्तिके

****

आश्रित है, वह संसारसे तर जायगा, पर अविश्वासियोंकी बड़ी दुर्गति होगी।

४—मनुष्य यदि विचारदृष्टिसे देखे तो उसे न्यायकारी और परमदयालु ईश्वरकी सत्ता और दयाका पद-पदपर परिचय मिलता है। प्राचीन और अर्वाचीन बहुत-से महात्माओंकी जीवनियोंमें इस प्रकारकी घटनाओंके अनेकों प्रमाण प्राप्त होते हैं। मैं अपने सम्बन्धमें इस विषयपर क्या लिखूँ? अवश्य ही मैं यह विनय कर सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् विज्ञानानन्दघन परमात्माकी सत्ता और दयापर तथा उससे होनेवाली महात्माओंकी जीवन-घटनाओंपर विश्वास करनेसे अवश्य लाभ होता है।

शिव-तत्त्व

शान्तं पद्मासनस्थं शशधरमुकुटं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रं
शूलं वज्रं च खड्गं परशुमभयदं दक्षभागे वहन्तम्।
नागं पाशं च घण्टां प्रलयहुतवहं साङ्कुशं वामभागे
नानालङ्कारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीशं नमामि ॥*

शिव-तत्त्व बहुत ही गहन है। मुझ सरीखे साधारण व्यक्तिका इस तत्त्वपर कुछ लिखना एक प्रकारसे लड़कपनके समान है। परन्तु इसी बहाने उस विज्ञानानन्दघन महेश्वरकी चर्चा हो जायगी, यह समझकर अपने मनोविनोदके लिये कुछ लिख रहा हूँ। विद्वान् महानुभाव क्षमा करें।

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदिमें सृष्टिकी उत्पत्तिका भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णन मिलता है। इसपर तो यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न ऋषियोंके पृथक्-पृथक् मत होनेके कारण उनके वर्णनमें भेद होना सम्भव है; परन्तु पुराण तो अठारहों एक ही महर्षि वेदव्यासके रचे हुए माने जाते हैं, उनमें भी सृष्टिकी उत्पत्तिके वर्णनमें विभिन्नता ही पायी जाती है। शैवपुराणोंमें शिवसे, वैष्णवपुराणोंमें विष्णु, कृष्ण या रामसे और शाक्तपुराणोंमें देवीसे सृष्टिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है इसका क्या कारण है? एक ही पुरुषद्वारा रचित भिन्न-भिन्न पुराणोंमें एक ही खास विषयमें इतना भेद क्यों? सृष्टिके विषयमें ही नहीं, इतिहासों और कथाओंका भी पुराणोंमें कहीं-कहीं अत्यन्त भेद पाया जाता है। इसका क्या हेतु है?

---

* जो शान्तस्वरूप हैं, कमलके आसनपर विराजमान हैं, मस्तकपर चन्द्रमाका मुकुट धारण करनेवाले हैं, जिनके पाँच मुख हैं, तीन नेत्र हैं, जो अपने दाहिने भागकी भुजाओंमें शूल, वज्र, खड्ग, परशु और अभयमुद्रा धारण करते हैं तथा वामभागकी भुजाओंमें सर्प, पाश, घण्टा, प्रलयाग्नि और अंकुश धारण किये रहते हैं, उन नाना अलङ्कारोंसे विभूति एवं स्फटिकमणिके समान श्वेतवर्ण भगवान् पार्वतीपतिको नमस्कार करता हूँ।

इस प्रश्नपर मूल-तत्त्वकी ओर लक्ष्य रखकर गम्भीरताके साथ विचार करनेपर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रममें भिन्न-भिन्न श्रुति, स्मृति और इतिहास-पुराणोंके वर्णनमें एवं योग, सांख्य, वेदान्तादि शास्त्रोंके रचयिता ऋषियोंके कथनमें भेद रहनेपर भी वस्तुतः मूल सिद्धान्तोंमें कोई खास भेद नहीं है; क्योंकि प्रायः सभी कोई नाम-रूप बदलकर आदिमें प्रकृति-पुरुषसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति बतलाते हैं। वर्णनमें भेद होने अथवा भेद प्रतीत होनेके निम्नलिखित कई कारण हैं—

१— मूल-तत्त्व एक होनेपर भी प्रत्येक महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम सदा एक-सा नहीं रहता; क्योंकि वेद, शास्त्र और पुराणोंमें भिन्न-भिन्न सर्ग और महासर्गोंका वर्णन है, इससे वर्णनमें भेद होना स्वाभाविक है।

२— महासर्ग और सर्गके आदिमें भी उत्पत्ति-क्रममें भेद रहता है। ग्रन्थोंमें कहीं महासर्गका वर्णन है तो कहीं सर्गका, इससे भी भेद हो जाता है।

३— प्रत्येक सर्गके आदिमें भी सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम सदा एक-सा नहीं रहता, यह भी भेद होनेका एक कारण है।

४— सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारके क्रमका रहस्य बहुत ही सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है, इसे समझानेके लिये नाना प्रकारके रूपकोंसे उदाहरण-वाक्योंद्वारा नाम-रूप बदलकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिकी उत्पत्ति आदिका रहस्य बतलानेकी चेष्टा की गयी है। इस तात्पर्यको न समझनेके कारण भी एक दूसरे ग्रन्थके वर्णनमें विशेष भेद प्रतीत होता है।

ये तो सृष्टिकी उत्पत्ति आदिके सम्बन्धमें वेद-शास्त्रोंमें भेद होनेके कारण हैं। अब पुराणोंके सम्बन्धमें विचार करना है। पुराणोंकी रचना महर्षि वेदव्यासजीने की। वेदव्यासजी महाराज बड़े भारी तत्त्वदर्शी विद्वान् और सृष्टिके समस्त रहस्यको जाननेवाले महापुरुष थे। उन्होंने देखा कि वेद-

शास्त्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्ति आदि ब्रह्मके अनेक नामोंका वर्णन होनेसे वास्तविक रहस्यको न समझकर अपनी-अपनी रुचि और बुद्धिकी विचित्रताके कारण मनुष्य इन भिन्न-भिन्न नाम-रूपवाले एक ही परमात्माको अनेक मानने लगे हैं और नाना मत-मतान्तरोंका विस्तार होनेसे असली तत्त्वका लक्ष्य छूट गया है। इस अवस्थामें उन्होंने सबको एक ही परम लक्ष्यकी ओर मोड़कर सर्वोत्तम मार्गपर लानेके लिये एवं श्रुति, स्मृति आदिका रहस्य स्त्री, शूद्रादि अल्पबुद्धिवाले मनुष्योंको समझानेके लिये उन सबके परम हितके उद्देश्यसे पुराणोंकी रचना की। पुराणोंकी रचनाशैली देखनेसे प्रतीत होता है कि महर्षि वेदव्यासजीने उनमें इस प्रकारके वर्णन, उपदेश और आदेश किये हैं, जिनके प्रभावसे परमेश्वरके नाना प्रकारके नाम और रूपोंको देखकर भी मनुष्य प्रमाद, लोभ और मोहके वशीभूत हो सन्मार्गका त्याग करके मार्गान्तरमें नहीं जा सकते। वे किसी भी नाम-रूपसे परमेश्वरकी उपासना करते हुए ही सन्मार्गपर आरूढ़ रह सकते हैं। बुद्धि और रुचि-वैचित्र्यके कारण संसारमें विभिन्न प्रकारके देवताओंकी उपासना करनेवाले जनसमुदायको एक ही सूत्रमें बाँधकर उन्हें सन्मार्गपर लगा देनेके उद्देश्यसे ही शास्त्र और वेदोक्त देवताओंको ईश्वरत्व देकर भिन्न-भिन्न पुराणोंमें भिन्न-भिन्न देवताओंसे भिन्न-भिन्न भाँतिसे सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लयका क्रम बतलाया गया है। जीवोंपर महर्षि वेदव्यासजीकी परम कृपा है। उन्होंने सबके लिये परमधाम पहुँचनेका मार्ग सरल कर दिया। पुराणोंमें यह सिद्ध कर दिया है कि जो मनुष्य भगवान्‌के जिस नाम-रूपका उपासक हो वह उसीको सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण गुणाधार, विज्ञानानन्दघन परमात्मा माने और उसीको सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु, महेशके रूपमें प्रकट होकर क्रिया करनेवाला समझे। उपासकके लिये ऐसा ही समझना परम लाभदायक और सर्वोत्तम है कि मेरे उपास्यदेवसे बढ़कर और कोई है ही नहीं। सब उसीका लीला-विस्तार या विभूति है।

वास्तवमें बात भी यही है। एक निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही हैं। उन्हींके किसी अंशमें प्रकृति है। उस प्रकृतिको ही लोग माया, शक्ति आदि नामोंसे पुकारते हैं। वह माया बड़ी विचित्र है। उसे कोई अनादि, अनन्त कहते हैं तो कोई अनादि, सान्त मानते हैं; कोई उस ब्रह्मकी शक्तिको ब्रह्मसे अभिन्न मानते हैं तो कोई भिन्न बतलाते हैं; कोई सत् कहते हैं तो कोई असत् प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः मायाके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा जाता है, माया उससे विलक्षण है। क्योंकि उसे न असत् ही कहा जा सकता है, न सत् ही । असत् तो इसलिये नहीं कह सकते कि उसीका विकृत रूप यह संसार (चाहे वह किसी भी रूपमें क्यों न हो) प्रत्यक्ष प्रतीत होता है और सत् इसलिये नहीं कह सकते कि जड दृश्य सर्वथा परिवर्तनशील होनेसे उसकी नित्य सम स्थिति नहीं देखी जाती एवं ज्ञान होनेके उत्तरकालमें उसका या उसके सम्बन्धका अत्यन्त अभाव भी बतलाया गया है और ज्ञानीका भाव ही असली भाव है। इसीलिये उसको अनिर्वचनीय समझना चाहिये।

विज्ञानानन्दघन परमात्माके वेदोंमें दो स्वरूप माने गये हैं। प्रकृतिरहित ब्रह्मको निर्गुण ब्रह्म कहा गया है और जिस अंशमें प्रकृति या त्रिगुणमयी माया है उस प्रकृतिसहित ब्रह्मके अंशको सगुण कहते हैं। सगुण ब्रह्मके भी दो भेद माने गये हैं—एक निराकार, दूसरा साकार। उस निराकार, सगुण ब्रह्मको ही महेश्वर, परमेश्वर आदि नामोंसे पुकारा जाता है। वही सर्वव्यापी, निराकार, सृष्टिकर्ता परमेश्वर स्वयं ब्रह्मा, विष्णु, महेश— इन तीनों रूपोंमें प्रकट होकर सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार किया करते हैं। इस प्रकार पाँच रूपोंमें विभक्त-से हुए परात्पर, परब्रह्म परमात्माको ही शिवके उपासक सदाशिव, विष्णुके उपासक महाविष्णु और शक्तिके उपासक महाशक्ति आदि नामोंसे पुकारते हैं। श्रीशिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, राम, कृष्ण आदि सभीके सम्बन्धमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं। शिवके उपासक नित्य विज्ञानानन्दघन निर्गुण ब्रह्मको

सदाशिव, सर्वव्यापी, निराकार; सगुण ब्रह्मको महेश्वर; सृष्टिके उत्पन्न करनेवालेको ब्रह्मा; पालनकर्ताको विष्णु और संहारकर्ताको रुद्र कहते हैं और इन पाँचोंको ही शिवका रूप बतलाते हैं। भगवान् विष्णुके प्रति भगवान् महेश्वर कहते हैं—

त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्मविष्णुहराख्यया।
सर्गरक्षालयगुणैर्निष्कलोऽपि सदा हरे॥
यथा च ज्योतिषः सङ्गाज्जलादेः स्पर्शता न वै।
तथा ममागुणस्यापि संयोगाद्बन्धनं न हि॥
यथैकस्या मृदो भेदो नाम्नि पात्रे न वस्तुतः।
यथैकस्य समुद्रस्य विकारो नैव वस्तुतः॥
एवं ज्ञात्वा भवद्भ्यां च न दृश्यं भेदकारणम्।
वस्तुतः सर्वदृश्यं च शिवरूपं मतं मम॥
अहं भवानयं चैव रुद्रोऽयं यो भविष्यति।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवेत्॥
तथापीह मदीयं वै शिवरूपं सनातनम्।
मूलभूतं सदा प्रोक्तं सत्यं ज्ञानमनन्तकम्॥

(शिव० ज्ञान० ४।४१, ४४,४८—५१)

'हे विष्णो ! हे हरे !! मैं स्वभावसे निर्गुण होता हुआ भी संसारकी रचना, स्थिति एवं प्रलयके लिये रज, सत्त्व आदि गुणोंसे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—इन नामोंके द्वारा तीन रूपोंमें विभक्त हो रहा हूँ। जिस प्रकार जलादिके संसर्गसे अर्थात् उनमें प्रतिबिम्ब पड़नेसे सूर्य आदि ज्योतियोंमें उसका सम्पर्क नहीं होता, उसी प्रकार मुझ निर्गुणका भी गुणोंके संयोगसे बन्धन नहीं होता। मिट्टीके नाना प्रकारके पात्रोंमें केवल नाम और आकारका ही भेद है, वास्तविक भेद नहीं है—एक मिट्टी ही है। समुद्रके भी फेन, बुद्‌बुदे, तरङ्गादि विकार लक्षित होते हैं; वस्तुतः समुद्र एक ही है। यह समझकर आपलोगोंको

भेदका कोई कारण न देखना चाहिये। वस्तुतः सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ शिवरूप ही हैं, ऐसा मेरा मत है। मैं, आप, ये ब्रह्माजी और आगे चलकर मेरी जो रुद्रमूर्ति उत्पन्न होगी— ये सब एकरूप ही हैं, इनमें कोई भेद नहीं है। भेद ही बन्धनका कारण है। फिर भी यहाँ मेरा यह शिवरूप नित्य, सनातन एवं सबका मूल-स्वरूप कहा गया है। यही सत्य, ज्ञान एवं अनन्तरूप गुणातीत परब्रह्म है।'

साक्षात् महेश्वरके इन वचनोंसे उनका **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**—नित्य विज्ञानानन्दघन निर्गुणरूप, सर्वव्यापी, सगुण, निराकाररूप और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूप—ये पाँचों सिद्ध होते हैं। यही सदाशिव पञ्चवक्त्र हैं।

इसी प्रकार श्रीविष्णुके उपासक निर्गुण परात्पर ब्रह्मको महाविष्णु, सर्वव्यापी, निराकार, सगुण ब्रह्मको वासुदेव तथा सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले रूपोंको क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहते हैं। महर्षि पराशर भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

अविकाराय शुद्धाय नित्याय परमात्मने।
सदैकरूपरूपाय विष्णवे सर्वजिष्णवे॥
नमो हिरण्यगर्भाय हरये शङ्कराय च।
वासुदेवाय ताराय सर्गस्थित्यन्तकारिणे॥
एकानेकस्वरूपाय स्थूलसूक्ष्मात्मने नमः।
अव्यक्तव्यक्तरूपाय विष्णवे मुक्तिहेतवे॥
सर्गस्थितिविनाशानां जगतोऽस्य जगन्मयः।
मूलभूतो नमस्तस्मै विष्णवे परमात्मने॥
आधारभूतं विश्वस्याप्यणीयांसमणीयसाम्।
प्रणम्य सर्वभूतस्थमच्युतं पुरुषोत्तमम्॥

(विष्णु० १।२।१—५)

'निर्विकार, शुद्ध, नित्य, परमात्मा, सर्वदा एकरूप, सर्वविजयी हरि, हिरण्यगर्भ, शङ्कर, वासुदेव आदि नामोंसे प्रसिद्ध संसार-तारक, विश्वकी उत्पत्ति,

स्थिति तथा लयके कारण, एक और अनेक स्वरूपवाले, स्थूल, सूक्ष्म—उभयात्मक व्यक्ताव्यक्तस्वरूप एवं मुक्तिदाता भगवान् विष्णुको मेरा बारम्बार नमस्कार है। जो जगन्मय भगवान् इस संसारकी उत्पत्ति, पालन एवं विनाशके मूलकारण हैं, उन सर्वव्यापी भगवान् वासुदेव परमात्माको मेरा नमस्कार है। विश्वाधार, अत्यन्त सूक्ष्मसे अति सूक्ष्म, सर्वभूतोंके अंदर रहनेवाले, अच्युत पुरुषोत्तम भगवान्‌को मेरा प्रणाम है।'

यहाँ अव्यक्तसे निर्विकार, नित्य शुद्ध परमात्माका निर्गुण स्वरूप समझना चाहिये। व्यक्तसे सगुण स्वरूप समझना चाहिये। उस सगुणके भी स्थूल और सूक्ष्म—दो स्वरूप बतलाये गये हैं। यहाँ सूक्ष्मसे सर्वव्यापी भगवान् वासुदेवको समझना चाहिये, जो कि ब्रह्मा, विष्णु और महेशके भी मूल कारण हैं एवं सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म पुरुषोत्तम नामसे बतलाये गये हैं तथा स्थूलस्वरूप यहाँ संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और महेशके वाचक हैं जो कि हिरण्यगर्भ हरि और शङ्करके नामसे कहे गये हैं। इन्हीं सब वचनोंसे श्रीविष्णुभगवान्‌के उपर्युक्त पाँचों रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार भगवती महाशक्तिकी स्तुति करते हुए देवगण कहते हैं—

सृष्टिस्थितिविनाशानां शक्तिभूते सनातनि।
गुणाश्रये गुणमयि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

(मार्कण्डेय० ९१। १०)

'ब्रह्मा, विष्णु और महेशके रूपसे सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाश करनेवाली हे सनातनी शक्ति! हे गुणाश्रये! हे गुणमयी नारायणी देवी! तुम्हें नमस्कार हो।'

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका॥

****

कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
तेजस्स्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥
सर्वबीजस्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला॥

(ब्रह्मवै॰ प्रकृति॰ २।६६।७—११)

'तुम्हीं विश्वजननी, मूल-प्रकृति ईश्वरी हो, तुम्हीं सृष्टिकी उत्पत्तिके समय आद्याशक्तिके रूपमें विराजमान रहती हो और स्वेच्छासे त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। यद्यपि वस्तुतः तुम स्वयं निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो। तुम परब्रह्मस्वरूप, सत्य, नित्य एवं सनातनी हो; परमतेजःस्वरूप और भक्तोंपर अनुग्रह करनेके हेतु शरीर धारण करनेवाली हो; तुम सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी, सर्वाधार एवं परात्पर हो। तुम सर्वबीजस्वरूप, सर्वपूज्या एवं आश्रयरहित हो। तुम सर्वज्ञ, सर्वप्रकारसे मङ्गल करनेवाली एवं सर्वमङ्गलोंका भी मङ्गल हो।'

ऊपरके उद्धरणसे महाशक्तिका विज्ञानानन्दघनस्वरूपके साथ ही सर्वव्यापी सगुण ब्रह्म एवं सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाशके लिये ब्रह्मा, विष्णु और शिवके रूपमें होना सिद्ध है।

इसी प्रकार ब्रह्माजीके बारेमें कहा गया है—

जय देवाधिदेवाय त्रिगुणाय सुमेधसे।
अव्यक्तजन्मरूपाय कारणाय महात्मने॥
एतत्त्रिभावभावाय उत्पत्तिस्थितिकारक।
रजोगुणगुणाविष्ट सृजसीदं चराचरम्॥
सत्त्वपाल महाभाग तमः संहरसेऽखिलम्।

(देवीपुराण ८३।१३—१६)

****

'आपकी जय हो। उत्तम बुद्धिवाले, अव्यक्त-व्यक्तरूप त्रिगुणमय, सबके कारण, विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहारकारक ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप तीनों भावोंसे भावित होनेवाले महात्मा देवाधिदेव ब्रह्मदेवके लिये नमस्कार है। हे महाभाग ! आप रजोगुणसे आविष्ट होकर हिरण्यगर्भरूपसे चराचर संसारको उत्पन्न करते हैं तथा सत्त्वगुणयुक्त होकर विष्णुरूपसे पालन करते हैं एवं तमोमूर्ति धारण करके रुद्ररूपसे सम्पूर्ण संसारका संहार करते हैं।'

उपर्युक्त वचनोंसे ब्रह्माजीके भी परात्पर ब्रह्मसहित पाँचों रूपोंका होना सिद्ध होता है। अव्यक्तसे तो परात्पर परब्रह्मस्वरूप एवं कारणसे सर्वव्यापी, निराकार सगुणरूप तथा उत्पत्ति, पालन और संहारकारक होनेसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूप होना सिद्ध होता है।

इसी तरह भगवान् श्रीरामके प्रति भगवान् शिवके वाक्य हैं—

एकस्त्वं पुरुषः साक्षात् प्रकृतेः पर ईर्यसे।
यः स्वांशकलया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च॥
अरूपस्त्वमशेषस्य जगतः कारणं परम्।
एक एव त्रिधा रूपं गृह्णासि कुहकान्वितः॥
सृष्टौ विधातृरूपस्त्वं पालने स्वप्रभामयः।
प्रलये जगतः साक्षादहं शर्वाख्यतां गतः॥

(पद्म० पाताल० ४६। ६—८)

'आप प्रकृतिसे अतीत साक्षात् अद्वितीय पुरुष कहे जाते हैं, जो अपनी अंशकलाके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूपसे विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहार करते हैं। आप अरूप होते हुए भी अखिल विश्वके परम कारण हैं। आप एक होते हुए भी माया-संवलित होकर त्रिविध रूप धारण करते हैं। संसारकी सृष्टिके समय आप ब्रह्मारूपसे प्रकट होते हैं, पालनके समय स्वप्रभामय विष्णुरूपसे व्यक्त होते हैं और प्रलयके समय मुझ शर्व (रुद्र) का रूप धारण कर लेते हैं।'

श्रीरामचरितमानसमें भी भगवान् शङ्करने पार्वतीजीसे भगवान् श्रीरामके सम्बन्धमें कहा है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके परब्रह्म परमात्मा होनेका विविध ग्रन्थोंमें उल्लेख है। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कथा है कि एक महासर्गके आदिमें भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य अङ्गोंसे भगवान् नारायण और भगवान् शिव तथा अन्यान्य सब देवी-देवता प्रादुर्भूत हुए। वहाँ श्रीशिवजीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

विश्वं विश्वेश्वरेशं च विश्वेशं विश्वकारणम्।
विश्वाधारं च विश्वस्तं विश्वकारणकारणम्॥
विश्वरक्षाकारणं च विश्वघ्नं विश्वजं परम्।
फलबीजं फलाधारं फलं च तत्फलप्रदम्॥

(ब्रह्मवै० १।३।२५-२६)

'आप विश्वरूप हैं, विश्वके स्वामी हैं, विश्वके स्वामियोंके भी स्वामी हैं, विश्वके कारणके भी कारण हैं, विश्वके आधार हैं, विश्वस्त हैं, विश्वरक्षक हैं, विश्वका संहार करनेवाले हैं और नाना रूपोंसे विश्वमें आविर्भूत होते हैं। आप फलोंके बीज हैं, फलोंके आधार हैं, फलस्वरूप हैं और फलदाता हैं।'

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भी अपने लिये श्रीमुखसे कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(१४।२७)

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥

(९।१८-१९)

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(७।७)

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

(१०।३)

'हे अर्जुन! उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य-धर्मका एवं अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ; अर्थात् उपर्युक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत धर्म तथा ऐकान्तिक सुख—यह सब मैं ही हूँ तथा प्राप्त होनेयोग्य, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, उत्पत्ति-प्रलयरूप, सबका आधार, निधान* और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ। मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ तथा वर्षाको आकर्षण करता हूँ और बरसाता हूँ एवं हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु एवं सत् और असत्—सब कुछ मैं ही हूँ।'

'हे धनंजय! मेरे सिवा किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मेरेमें गुँथा हुआ है। जो मुझको अजन्मा (वास्तवमें जन्मरहित), अनादि † तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता

---

* प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूत सूक्ष्मरूपसे जिसमें लय होते हैं उसका नाम 'निधान' है।

† अनादि उसको कहते हैं जो आदिरहित होवे और सबका कारण होवे।

है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

ऊपरके इन अवतरणोंसे यह सिद्ध हो गया कि भगवान् श्रीशिव, विष्णु, ब्रह्मा, शक्ति, राम, कृष्ण-तत्त्वतः एक ही हैं। इस विवेचनपर दृष्टि डालकर विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सभी उपासक एक सत्य, विज्ञाना-नन्दघन परमात्माको मानकर सच्चे सिद्धान्तपर ही चल रहे हैं। नाम-रूपका भेद है, परन्तु वस्तु-तत्त्वमें कोई भेद नहीं। सबका लक्ष्यार्थ एक ही है। ईश्वरको इस प्रकार सर्वोपरि, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन समझकर शास्त्र और आचार्योंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार किसी भी नाम-रूपसे उसकी जो उपासना की जाती है, वह उस एक ही परमात्माकी उपासना है।

विज्ञानानन्दघन सर्वव्यापी परमात्मा शिवके उपर्युक्त तत्त्वको न जाननेके कारण ही कुछ शिवोपासक भगवान् विष्णुकी निन्दा करते हैं और कुछ वैष्णव भगवान् शिवकी निन्दा करते हैं। कोई-कोई यदि निन्दा और द्वेष नहीं भी करते हैं तो प्रायः उदासीन-से तो रहते ही हैं। परन्तु इस प्रकारका व्यवहार वस्तुतः ज्ञानरहित समझा जाता है। यदि यह कहा जाय कि ऐसा न करनेसे एकनिष्ठ अनन्य उपासनामें दोष आता है, तो वह ठीक नहीं है, जैसे पतिव्रता स्त्री एकमात्र अपने पतिको ही इष्ट मानकर उसके आज्ञानुसार उसकी सेवा करती हुई, पतिके माता-पिता, गुरुजन तथा अतिथि-अभ्यागत और पतिके अन्यान्य सम्बन्धी और प्रेमी बन्धुओंकी भी पतिके आज्ञानुसार पतिकी प्रसन्नताके लिये यथोचित आदर-भावसे मन लगाकर विधिवत् सेवा करती है और ऐसा करती हुई भी वह अपने एकनिष्ठ पातिव्रत-धर्मसे जरा भी न गिरकर उलटे शोभा और यशको प्राप्त होती है। वास्तवमें दोष पाप-बुद्धि, भोग-बुद्धि और द्वेष-बुद्धिमें है अथवा व्यभिचार और शत्रुतामें है। यथोचित वैध-सेवा तो कर्तव्य है। इसी प्रकार परमात्माके किसी एक नाम-रूपको अपना परम इष्ट मानकर उसकी अनन्यभावसे भक्ति करते हुए ही अन्यान्य देवोंकी भी अपने इष्टदेवके आज्ञानुसार उसी स्वामीकी

प्रीतिके लिये श्रद्धा और आदरके साथ यथायोग्य सेवा करनी चाहिये। उपर्युक्त अवतरणोंके अनुसार जब एक नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही हैं तथा वास्तवमें उनसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है, तब किसी एक नाम-रूपसे द्वेष या उसकी निन्दा, तिरस्कार और उपेक्षा करना उस परब्रह्मसे ही वैसा करना है। कहीं भी श्रीशिव या श्रीविष्णुने या श्रीब्रह्माने एक-दूसरेकी न तो निन्दा आदि की है और न निन्दा आदि करनेके लिये किसीसे कहा ही है, बल्कि निन्दा आदिका निषेध और तीनोंको एक माननेकी प्रशंसा की है। शिवपुराणमें कहा गया है—

एते परस्परोत्पन्ना धारयन्ति परस्परम्।
परस्परेण वर्धन्ते परस्परमनुव्रताः॥
क्वचिद्ब्रह्मा क्वचिद्विष्णुः क्वचिद्रुद्रः प्रशस्यते।
नानेव तेषामाधिक्यमैश्वर्यं चातिरिच्यते॥
अयं परस्त्वयं नेति संरम्भाभिनिवेशिनः।
यातुधाना भवन्त्येव पिशाचा वा न संशयः॥

'ये तीनों (ब्रह्मा, विष्णु और शिव) एक-दूसरेसे उत्पन्न हुए हैं, एक-दूसरेको धारण करते हैं, एक दूसरेके द्वारा वृद्धिंगत होते हैं और एक दूसरेके अनुकूल आचरण करते हैं। कहीं ब्रह्माकी प्रशंसा की जाती है, कहीं विष्णुकी और कहीं महादेवकी। उनका उत्कर्ष एवं ऐश्वर्य एक-दूसरेकी अपेक्षा इस प्रकार अधिक कहा है मानो वे अनेक हों। जो संशयात्मा मनुष्य यह विचार करते हैं कि अमुक बड़ा है और अमुक छोटा है वे अगले जन्ममें राक्षस अथवा पिशाच होते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

स्वयं भगवान् शिव श्रीविष्णुभगवान्से कहते हैं—

मद्दर्शने फलं यद्वै तदेव तव दर्शने।
ममैव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहम्॥
उभयोरन्तरं यो वै न जानाति मतो मम।

(शिव॰ ज्ञान॰ ४। ६१-६२)

****

'मेरे दर्शनका जो फल है वही आपके दर्शनका है। आप मेरे हृदयमें निवास करते हैं और मैं आपके हृदयमें रहता हूँ। जो हम दोनोंमें भेद नहीं समझता, वही मुझे मान्य है।'

भगवान् श्रीराम भगवान् श्रीशिवसे कहते हैं—

ममासि हृदये शर्व भवतो हृदये त्वहम्।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः॥
ये भेदं विदधत्यद्धा आवयोरेकरूपयोः।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते नराः कल्पसहस्रकम्॥
ये त्वद्भक्ताः सदासंस्ते मद्भक्ता धर्मसंयुताः।
मद्भक्ता अपि भूयस्या भक्त्या तव नतिङ्कराः॥

(पद्म० पाताल० ४६। २०—२२)

'आप शङ्कर मेरे हृदयमें रहते हैं और मैं आपके हृदयमें रहता हूँ। हम दोनोंमें कोई भेद नहीं है। मूर्ख एवं दुर्बुद्धि मनुष्य ही हमारे अंदर भेद समझते हैं। हम दोनों एकरूप हैं, जो मनुष्य हम दोनोंमें भेद-भावना करते हैं वे हजार कल्पपर्यन्त कुम्भीपाक नरकोंमें यातना सहते हैं। जो आपके भक्त हैं वे धार्मिक पुरुष सदा ही मेरे भक्त रहे हैं और जो मेरे भक्त हैं वे प्रगाढ़ भक्तिसे आपको भी प्रणाम करते हैं।'

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण भी भगवान् श्रीशिवसे कहते हैं—

त्वत्परो नास्ति मे प्रेयांस्त्वं मदीयात्मनः परः।
ये त्वां निन्दन्ति पापिष्ठा ज्ञानहीना विचेतसः॥
पच्यन्ते कालसूत्रेण यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
कृत्वा लिङ्गं सकृत्पूज्य वसेत्कल्पायुतं दिवि॥
प्रजावान् भूमिमान् विद्वान् पुत्रबान्धववांस्तथा।
ज्ञानवान्मुक्तिमान् साधुः शिवलिङ्गार्चनाद्भवेत्॥

शिवेति शब्दमुच्चार्य प्राणांस्त्यजति यो नरः।
कोटिजन्मार्जितात् पापान्मुक्तो मुक्तिं प्रयाति सः॥

(ब्रह्मवैवर्त० ६। ३१-३२, ४५, ४७)

'मुझे आपसे बढ़कर कोई प्यारा नहीं है, आप मुझे अपनी आत्मासे भी अधिक प्रिय हैं। जो पापी, अज्ञानी एवं बुद्धिहीन पुरुष आपकी निन्दा करते हैं, जबतक चन्द्र और सूर्यका अस्तित्व रहेगा तबतक कालसूत्रमें (नरकमें) पचते रहेंगे। जो शिवलिङ्गका निर्माण कर एक बार भी उसकी पूजा कर लेता है, वह दस हजार कल्पतक स्वर्गमें निवास करता है, शिवलिङ्गके अर्चनसे मनुष्यको प्रजा, भूमि, विद्या, पुत्र, बान्धव, श्रेष्ठता, ज्ञान एवं मुक्ति सब कुछ प्राप्त हो जाता है। जो मनुष्य 'शिव' शब्दका उच्चारण कर शरीर छोड़ता है वह करोड़ों जन्मोंके सञ्चित पापोंसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है।'

भगवान् विष्णु श्रीमद्भागवत (४। ७। ५४) में दक्षप्रजापतिके प्रति कहते हैं—

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति॥

'हे विप्र! हम तीनों एकरूप हैं और समस्त भूतोंकी आत्मा हैं, हमारे अंदर जो भेद-भावना नहीं करता, निःसन्देह वह शान्ति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामने कहा है—

संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥
औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

ऐसी अवस्थामें जो मनुष्य दूसरेके इष्टदेवकी निन्दा या अपमान करता है, वह वास्तवमें अपने ही इष्टदेवका अपमान या निन्दा करता है। परमात्माकी

प्राप्तिके पूर्वकालमें परमात्माका यथार्थ रूप न जाननेके कारण भक्त अपनी समझके अनुसार अपने उपास्यदेवका जो स्वरूप कल्पित करता है, वास्तवमें उपास्यदेवका स्वरूप उससे अत्यन्त विलक्षण है; तथापि उसकी अपनी बुद्धि, भावना तथा रुचिके अनुसार की हुई सच्ची और श्रद्धायुक्त उपासनाको परमात्मा सर्वथा सर्वांशमें स्वीकार करते हैं; क्योंकि ईश्वर-प्राप्तिके पूर्व ईश्वरका यथार्थ स्वरूप किसीके भी चिन्तनमें नहीं आ सकता। अतएव ईश्वरके किसी भी नाम-रूपकी निष्कामभावसे उपासना करनेवाला पुरुष शीघ्र ही उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। हाँ, सकामभावसे उपासना करनेवालेको विलम्ब हो सकता है। तथापि सकामभावसे उपासना करनेवाला भी श्रेष्ठ और उदार ही माना गया है (गीता ७। १८), क्योंकि अन्तमें वह भी ईश्वरको ही प्राप्त होता है। **'मद्भक्ता यान्ति मामपि'** (गीता ७। २३)।

'शिव' शब्द नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माका वाचक है। यह उच्चारणमें बहुत ही सरल, अत्यन्त मधुर और स्वाभाविक ही शान्तिप्रद है। 'शिव' शब्दकी उत्पत्ति 'वश कान्तौ' धातुसे हुई है, जिसका तात्पर्य यह है कि जिसको सब चाहते हैं उसका नाम 'शिव' है। सब चाहते हैं अखण्ड आनन्दको। अतएव 'शिव' शब्दका अर्थ आनन्द हुआ। जहाँ आनन्द है वहीं शान्ति है और परम आनन्दको ही परम मङ्गल और परम कल्याण कहते हैं, अतएव 'शिव' शब्दका अर्थ परम मङ्गल, परम कल्याण समझना चाहिये। इस आनन्ददाता, परम कल्याणरूप शिवको ही शङ्कर कहते हैं। 'शं' आनन्दको कहते हैं और 'कर' से करनेवाला समझा जाता है, अतएव जो आनन्द करता है वही 'शङ्कर' है। ये सब लक्षण उस नित्य विज्ञानानन्दघन परम ब्रह्मके ही हैं।

इस प्रकार रहस्य समझकर शिवकी श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उपासना करनेसे उनकी कृपासे उनका तत्त्व समझमें आ जाता है। जो पुरुष शिव-तत्त्वको जान लेता है उसके लिये फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। शिव-तत्त्वको हिमालयतनया भगवती पार्वती यथार्थरूपसे जानती थीं, इसीलिये छद्मवेषी

स्वयं शिवके बहकानेसे भी वे अपने सिद्धान्तसे तिलमात्र भी नहीं टलीं। उमा शिवका यह संवाद बहुत ही उपदेशप्रद और रोचक है।

शिवतत्त्वैकनिष्ठ पार्वती शिवप्राप्तिके लिये घोर तप करने लगीं। माता मेनकाने स्नेहकातरा होकर उ (वत्से!) मा (ऐसा तप न करो) कहा, इससे उसका नाम 'उमा' हो गया। उन्होंने सूखे पत्ते भी खाने छोड़ दिये, तब उनका 'अपर्णा' नाम पड़ा। उनकी कठोर तपस्याको देख-सुनकर परम आश्चर्यान्वित हो ऋषिगण भी कहने लगे कि 'अहो, इसको धन्य है, इसकी तपस्याके सामने दूसरोंकी तपस्या कुछ भी नहीं है।' पार्वतीकी इस तपस्याको देखनेके लिये एक समय स्वयं भगवान् शिव जटाधारी वृद्ध ब्राह्मणके वेषमें तपोभूमिमें आये और पार्वतीके द्वारा फल-पुष्पादिसे पूजित होकर उसके तपका उद्देश्य शिवसे विवाह करना है, यह जानकर कहने लगे—

'हे देवि! इतनी देर बातचीत करनेसे तुमसे मेरी मित्रता हो गयी है। मित्रताके नाते मैं तुमसे कहता हूँ, तुमने बड़ी भूल की है। तुम्हारा शिवके साथ विवाह करनेका सङ्कल्प सर्वथा अनुचित है। तुम सोनेको छोड़कर काँच चाह रही हो, चन्दन त्यागकर कीचड़ पोतना चाहती हो। हाथी छोड़कर बैलपर मन चलाती हो। गङ्गाजल परित्याग कर कुएँका जल पीनेकी इच्छा करती हो। सूर्यका प्रकाश छोड़कर खद्योतको और रेशमी वस्त्र त्याग कर चमड़ा पहनना चाहती हो। तुम्हारा यह कार्य तो देवताओंकी सन्निधिका त्याग कर असुरोंका साथ करनेके समान है। उत्तमोत्तम देवोंको छोड़कर शङ्करपर अनुराग करना सर्वथा लोकविरुद्ध है।

'जरा सोचो तो सही, कहाँ तुम्हारा कुसुम-सुकुमार शरीर और त्रिभुवन-कमनीय सौन्दर्य और कहाँ जटाधारी, चिताभस्मलेपनकारी, श्मशानविहारी, त्रिनेत्र, भूतपति महादेव! कहाँ तुम्हारे घरके देवतालोग और कहाँ शिवके पार्षद भूत-प्रेत! कहाँ तुम्हारे पिताके घरके बजनेवाले सुन्दर बाजोंकी ध्वनि और कहाँ उस महादेवके डमरू, सिंगी और गाल बजानेकी ध्वनि! न

महादेवके माँ-बापका पता है, न जातिका ! दरिद्रता इतनी कि पहननेको कपड़ातक नहीं है ! दिगम्बर रहते हैं, बैलकी सवारी करते हैं और बाघका चमड़ा ओढ़े रहते हैं ! न उनमें विद्या है और न शौचाचार ही है। सदा अकेले रहनेवाले, उत्कट विरागी, मुण्डमालाधारी महादेवके साथ रहकर तुम क्या सुख पाओगी ?'

पार्वती और अधिक शिव-निन्दा न सह सकीं। वे तमककर बोलीं—'बस, बस, बस रहने दो, मैं और अधिक सुनना नहीं चाहती। मालूम होता है, तुम शिवके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानते। इसीसे यों मिथ्या प्रलाप कर रहे हो। तुम किसी धूर्त ब्रह्मचारीके रूपमें यहाँ आये हो। शिव वस्तुतः निर्गुण हैं, करुणावश ही वे सगुण होते हैं। उन सगुण और निर्गुण—उभयात्मक शिवकी जाति कहाँसे होगी ? जो सबके आदि हैं, उनके माता-पिता कौन होंगे और उनकी उम्रका ही क्या परिमाण बाँधा जा सकता है ? सृष्टि उनसे उत्पन्न होती है, अतएव उनकी शक्तिका पता कौन लगा सकता है ? वही अनादि, अनन्त, नित्य, निर्विकार, अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणाधार, सर्वज्ञ, सर्वोपरि, सनातनदेव हैं। तुम कहते हो, महादेव विद्याहीन हैं। अरे, ये सारी विद्याएँ आयी कहाँसे हैं ? वेद जिनके निःश्वास हैं उन्हें तुम विद्याहीन कहते हो ? छिः ! छिः !! तुम मुझे शिवको छोड़कर किसी अन्य देवताका वरण करनेको कहते हो। अरे, इन देवताओंको जिन्हें तुम बड़ा समझते हो, देवत्व प्राप्त ही कहाँसे हुआ ? यह उन भोलेनाथकी ही कृपाका तो फल है। इन्द्रादि देवगण तो उनके दरवाजेपर ही स्तुति-प्रार्थना करते रहते हैं और बिना उनके गणोंकी आज्ञाके अंदर घुसनेका साहस नहीं कर सकते। तुम उन्हें अमङ्गलवेष कहते हो ? अरे, उनका 'शिव'—यह मङ्गलमय नाम जिनके मुखमें निरन्तर रहता है, उनके दर्शनमात्रसे सारी अपवित्र वस्तुएँ भी पवित्र हो जाती हैं, फिर भला स्वयं उनकी तो बात ही क्या है ? जिस चिताभस्मकी तुम निन्दा करते हो, नृत्यके अन्तमें जब वह उनके अङ्गोंसे झड़ती है उस समय

देवतागण उसे अपने मस्तकोंपर धारण करनेको लालायित होते हैं। बस, मैंने समझ लिया, तुम उनके तत्त्वको बिलकुल नहीं जानते। जो मनुष्य इस प्रकार उनके दुर्गम तत्त्वको बिना जाने उनकी निन्दा करते हैं, उनके जन्म-जन्मान्तरोंके सञ्चित किये हुए पुण्य विलीन हो जाते हैं। तुम-जैसे शिव-निन्दकका सत्कार करनेसे भी पाप लगता है। शिवनिन्दकको देखकर भी मनुष्यको सचैल स्नान करना चाहिये, तभी वह शुद्ध होता है। बस, अब मैं यहाँसे जाती हूँ। कहीं ऐसा न हो कि यह दुष्ट फिरसे शिवकी निन्दा प्रारम्भ कर मेरे कानोंको अपवित्र करे। शिवकी निन्दा करनेवालेको तो पाप लगता ही है, उसे सुननेवाला भी पापका भागी होता है।' यह कहकर उमा वहाँसे चल दीं। ज्यों ही वे वहाँसे जाने लगीं, वटु वेषधारी शङ्करने उन्हें रोक लिया। वे अधिक देरतक पार्वतीसे छिपे न रह सके, पार्वती जिस रूपका ध्यान करती थीं उसी रूपमें उनके सामने प्रकट हो गये और बोले—'मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, वर माँगो।'

पार्वतीकी इच्छा पूर्ण हुई, उन्हें साक्षात् शिवके दर्शन हुए। दर्शन ही नहीं, कुछ कालमें शिवने पार्वतीका पाणिग्रहण कर लिया।

जो पुरुष उन त्रिनेत्र, व्याघ्राम्बरधारी, सदाशिव परमात्माको निर्गुण, निराकार एवं सगुण, निराकार समझकर उनकी सगुण, साकार दिव्य मूर्तिकी उपासना करता है, उसीकी उपासना सच्ची और सर्वाङ्गपूर्ण है। इस समग्रतामें जितना अंश कम होता है, उतनी ही उपासनाकी सर्वाङ्गपूर्णतामें कमी है और उतना ही वह शिव-तत्त्वसे अनभिज्ञ है।

महेश्वरकी लीलाएँ अपरम्पार हैं। वे दया करके जिनको अपनी लीलाएँ और लीलाओंका रहस्य जनाते हैं, वही जान सकते हैं। उनकी कृपाके बिना तो उनकी विचित्र लीलाओंको देख-सुनकर देवी, देवता एवं मुनियोंको भी भ्रम हो जाया करता है, फिर साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है? परन्तु वास्तवमें शिवजी महाराज हैं बड़े ही आशुतोष! उपासना करनेवालोंपर बहुत ही शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। रहस्यको जानकर निष्काम-प्रेमभावसे भजनेवालों-

पर प्रसन्न होते हैं, इसमें तो कहना ही क्या है ? सकामभावसे, अपना मतलब गाँठनेके लिये जो अज्ञानपूर्वक उपासना करते हैं उनपर भी आप रीझ जाते हैं, भोले भण्डारी मुँहमाँगा वरदान देनेमें कुछ भी आगा-पीछा नहीं सोचते। जरा-सी भक्ति करनेवालेपर ही आपके हृदयका दयासमुद्र उमड़ पड़ता है। इस रहस्यको समझनेवाले आपको व्यङ्गसे 'भोलानाथ' कहा करते हैं। इस विषयमें गोसाईं तुलसीदासजी महाराजकी कल्पना बहुत ही सुन्दर है। वे कहते हैं—

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी॥
निज घरकी बरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।
सिवकी दई सम्पदा देखत, श्रीसारदा सिहानी॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुखकी नहीं निसानी।
तिन रंकनकौ नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी॥
दुख-दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी॥
प्रेम-प्रसंसा-बिनय-ब्यंगजुत, सुनि बिधिकी बर बानी।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन, जगत-मातु मुसुकानी॥

ऐसे भोलेनाथ भगवान् शङ्करको जो प्रेमसे नहीं भजते, वास्तवमें वे शिवके तत्त्वको नहीं जानते, अतएव उनका मनुष्य-जन्म लेना ही व्यर्थ है। इससे अधिक उनके लिये और क्या कहा जाय। अतएव प्रिय पाठकगणो! आप-लोगोंसे मेरा नम्र निवेदन है, यदि आपलोग उचित समझें तो नीचे लिखे साधनोंको समझकर यथाशक्ति उन्हें काममें लानेकी चेष्टा करें—

(क) पवित्र और एकान्त स्थानमें गीता अध्याय ६, श्लोक १० से १४ के अनुसार भगवान् शिवकी शरण होकर—

(१) भगवान् शङ्करके प्रेम, रहस्य, गुण और प्रभावकी अमृतमयी कथाओं-का उनके तत्त्वको जाननेवाले भक्तोंद्वारा श्रवण करके, मनन करना एवं

****

स्वयं भी सत्-शास्त्रोंको पढ़कर उनका रहस्य समझनेके लिये मनन करना और उनके अनुसार आचरण करनेके लिये प्राणपर्यन्त कोशिश करना।

(२) भगवान् शिवकी शान्त-मूर्तिका पूजन-वन्दनादि श्रद्धा और प्रेमसे नित्य करना।

(३) भगवान् शङ्करमें अनन्य प्रेम होनेके लिये विनय-भावसे रुदन करते हुए गद्गद वाणीद्वारा स्तुति और प्रार्थना करना।

(४) 'ॐ नमः शिवाय'—इस मन्त्रका मनके द्वारा या श्वासोंके द्वारा प्रेमभावसे गुप्त जप करना।

(५) उपर्युक्त रहस्यको समझकर प्रभावसहित यथारुचि भगवान् शिवके स्वरूपका श्रद्धा-भक्तिसहित निष्कामभावसे ध्यान करना।

(ख) व्यवहारकालमें—

(१) स्वार्थको त्यागकर प्रेमपूर्वक सबके साथ सद्-व्यवहार करना।

(२) भगवान् शिवमें प्रेम होनेके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार फलासक्तिको त्यागकर शास्त्रानुकूल यथाशक्ति यज्ञ, दान, तप, सेवा एवं वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाके कर्मोंको करना।

(३) सुख, दुःख एवं सुख-दुःखकारक पदार्थोंकी प्राप्ति और विनाशको शङ्करकी इच्छासे हुआ समझकर उनमें पद-पदपर भगवान् सदाशिवकी दयाका दर्शन करना।

(४) रहस्य और प्रभावको समझकर श्रद्धा और निष्काम प्रेमभावसे यथारुचि भगवान् शिवके स्वरूपका निरन्तर ध्यान होनेके लिये चलते-फिरते, उठते-बैठते उस शिवके नाम-जपका अभ्यास सदा-सर्वदा करना।

(५) दुर्गुण और दुराचारको त्यागकर सद्गुण और सदाचारके उपार्जनके लिये हर समय कोशिश करते रहना।

उपर्युक्त साधनोंको मनुष्य कटिबद्ध होकर ज्यों-ज्यों करता जाता है, त्यों-ही-त्यों उसके अन्तःकरणकी पवित्रता, रहस्य और प्रभावका अनुभव तथा अतिशय श्रद्धा एवं विशुद्ध प्रेमकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली जाती है। इसलिये कटिबद्ध होकर उपर्युक्त साधनोंको करनेके लिये कोशिश करनी चाहिये। इन सब साधनोंमें भगवान् सदाशिवका प्रेमपूर्वक निरन्तर चिन्तन करना सबसे बढ़कर है। अतएव नाना प्रकारके कर्मोंके बाहुल्यके कारण उसके चिन्तनमें एक क्षणकी भी बाधा न आवे, इसके लिये विशेष सावधान रहना चाहिये। यदि अनन्य प्रेमकी प्रगाढ़ताके कारण शास्त्रानुकूल कर्मोंके करनेमें कहीं कमी आती हो तो कोई हर्ज नहीं, किन्तु प्रेममें बाधा नहीं पड़नी चाहिये। क्योंकि जहाँ अनन्य प्रेम है। वहाँ भगवान्का चिन्तन (ध्यान) तो निरन्तर होता ही है और उस ध्यानके प्रभावसे पद-पदपर भगवान्की दयाका अनुभव करता हुआ मनुष्य भगवान् सदाशिवके तत्त्वको यथार्थरूपसे समझकर कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् परमपदको प्राप्त हो जाता है। अतएव भगवान् शिवके प्रेम और प्रभावको समझकर उनके स्वरूपका निष्काम प्रेमभावसे निरन्तर चिन्तन होनेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

शक्तिका रहस्य

शक्तिके विषयमें कुछ लिखनेके लिये भाई हनुमानप्रसाद पोद्दारने प्रेरणा की, किन्तु 'शक्ति' शब्द बहुव्यापक होनेके कारण इसके रहस्यको समझानेकी मैं अपनेमें शक्ति नहीं देखता; तथापि इनके आग्रहसे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार यत्किञ्चित् लिख रहा हूँ।

शक्तिके रूपमें ब्रह्मकी उपासना

शास्त्रोंमें 'शक्ति' शब्दके प्रसङ्गानुसार अलग-अलग अर्थ किये गये हैं। तान्त्रिकलोग इसीको पराशक्ति कहते हैं और इसीको विज्ञानानन्दघन ब्रह्म मानते हैं। वेद, शास्त्र, उपनिषद्, पुराण आदिमें भी 'शक्ति' शब्दका प्रयोग देवी, पराशक्ति, ईश्वरी, मूलप्रकृति आदि नामोंसे विज्ञानानन्दघन निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्मके लिये भी किया गया है ? विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका तत्त्व अतिसूक्ष्म एवं गुह्य होनेके कारण शास्त्रोंमें उसे नाना प्रकारसे समझानेकी चेष्टा की गयी है। इसलिये 'शक्ति' नामसे ब्रह्मकी उपासना करनेसे भी परमात्माकी ही प्राप्ति होती है। एक ही परमात्मतत्त्वकी निर्गुण, सगुण, निराकार, साकार, देव, देवी, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, शक्ति, राम, कृष्ण आदि अनेक नाम-रूपसे भक्तलोग उपासना करते हैं। रहस्यको जानकर शास्त्र और आचार्योंके बतलाये हुए मार्गके अनुसार उपासना करनेवाले सभी भक्तोंको उसकी प्राप्ति हो सकती है। उस दयासागर प्रेममय सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वरको सर्वोपरि, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण, गुणाधार, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा समझकर श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमसे उपासना करना ही उसके रहस्यको जानकर

उपासना करना है, इसलिये श्रद्धा और प्रेमपूर्वक उस विज्ञानानन्दस्वरूपा महाशक्ति भगवती देवीकी उपासना करनी चाहिये। वह निर्गुणस्वरूपा देवी जीवोंपर दया करके स्वयं ही सगुणभावको प्राप्त होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे उत्पत्ति, पालन और संहारकार्य करती है।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णजी कहते हैं—

त्वमेव सर्वजननी मूलप्रकृतिरीश्वरी।
त्वमेवाद्या सृष्टिविधौ स्वेच्छया त्रिगुणात्मिका॥
कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
तेजःस्वरूपा परमा भक्तानुग्रहविग्रहा।
सर्वस्वरूपा सर्वेशा सर्वाधारा परात्परा॥
सर्वबीजस्वरूपा च सर्वपूज्या निराश्रया।
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला॥

(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० २। ६६। ७-१०)

'तुम्हीं विश्वजननी मूलप्रकृति ईश्वरी हो, तुम्हीं सृष्टिकी उत्पत्तिके समय आद्याशक्तिके रूपमें विराजमान रहती हो और स्वेच्छासे त्रिगुणात्मिका बन जाती हो। यद्यपि वस्तुतः तुम स्वयं निर्गुण हो तथापि प्रयोजनवश सगुण हो जाती हो। तुम परब्रह्मस्वरूप, सत्य, नित्य एवं सनातनी हो। परमतेजस्वरूप और भक्तोंपर अनुग्रह करनेके हेतु शरीर धारण करती हो। तुम सर्वस्वरूपा, सर्वेश्वरी सर्वाधार एवं परात्पर हो। तुम सर्वबीजस्वरूप, सर्वपूज्या एवं आश्रयरहित हो। तुम सर्वज्ञ, सर्वप्रकारसे मङ्गल करनेवाली एवं सर्व मङ्गलोंकी भी मङ्गल हो।'

उस ब्रह्मरूप चेतनशक्तिके दो स्वरूप हैं—एक निर्गुण और दूसरा सगुण। सगुणके भी दो भेद हैं— एक निराकार और दूसरा साकार। इसीसे सारे संसारकी उत्पत्ति होती है। उपनिषदोंमें इसीको पराशक्तिके नामसे कहा गया है।

तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किन्नरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वशक्तिमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किञ्चैतत्प्राणि स्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत्। सैषा परा शक्तिः।

(बह्वृचोपनिषद्)

'उस पराशक्तिसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न हुए। उसीसे सब मरुद्गण, गन्धर्व, अप्सराएँ और बाजा बजानेवाले किन्नर सब ओरसे उत्पन्न हुए। समस्त भोग्य पदार्थ और अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज जो कुछ भी स्थावर, जङ्गम मनुष्यादि प्राणिमात्र उसी पराशक्तिसे उत्पन्न हुए। ऐसी वह पराशक्ति है।'

ऋग्वदेमें भगवती कहती है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्य-
हमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्य-
हमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥

(ऋग्वेद० अष्टक ८।७।११)

अर्थात् 'मैं रुद्र, वसु, आदित्य और विश्वेदेवोंके रूपमें विचरती हूँ। वैसे ही मित्र, वरुण, इन्द्र, अग्नि और अश्विनीकुमारोंके रूपको धारण करती हूँ।'

ब्रह्मसूत्रमें भी कहा है कि—

'सर्वोपेता तद्दर्शनात्' (द्वि० अ० प्रथमपाद ३०)

'वह पराशक्ति सर्वसामर्थ्यसे युक्त है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।'

यहाँ भी ब्रह्मका वाचक स्त्रीलिङ्ग शब्द आया है। ब्रह्मकी व्याख्या शास्त्रोंमें स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग आदि सभी लिङ्गोंमें की गयी है। इसलिये महाशक्तिके नामसे भी ब्रह्मकी उपासना की जा सकती है। बंगालमें श्रीरामकृष्ण परमहंसने माँ, भगवती, शक्तिके रूपमें ब्रह्मकी उपासना की थी।

वे परमेश्वरको माँ, तारा, काली आदि नामोंसे पुकारा करते थे। और भी बहुत-से महात्मा पुरुषोंने स्त्रीवाचक नामोंसे विज्ञानानन्दघन परमात्माकी उपासना की है। ब्रह्मकी महाशक्तिके रूपमें श्रद्धा, प्रेम और निष्कामभावसे उपासना करनेसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

शक्ति और शक्तिमान्‌की उपासना

बहुत-से सज्जन इसको भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति मानते हैं। महेश्वरी, जगदीश्वरी, परमेश्वरी भी इसीको कहते हैं। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, राधा, सीता आदि सभी इस शक्तिके ही रूप हैं। माया, महामाया, मूलप्रकृति, विद्या, अविद्या आदि भी इसीके रूप हैं। परमेश्वर शक्तिमान् है और भगवती परमेश्वरी उसकी शक्ति है। शक्तिमान्‌से शक्ति अलग होनेपर भी अलग नहीं समझी जाती। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निसे भिन्न नहीं है। यह सारा संसार शक्ति और शक्तिमान्‌से परिपूर्ण है और उसीसे इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। इस प्रकार समझकर वे लोग शक्तिमान् और शक्ति युगलकी उपासना करते हैं। प्रेमस्वरूपा भगवती ही भगवान्‌को सुगमतासे मिला सकती है। इस प्रकार समझकर कोई-कोई केवल भगवतीकी ही उपासना करते हैं। इतिहास-पुराणादिमें सब प्रकारके उपासकोंके लिये प्रमाण भी मिलते हैं।

इस महाशक्तिरूपा जगज्जननीकी उपासना लोग नाना प्रकारसे करते हैं। कोई तो इस महेश्वरीको ईश्वरसे भिन्न समझते हैं और कोई अभिन्न मानते हैं। वास्तवमें तत्त्वको समझ लेना चाहिये। फिर चाहे जिस प्रकार उपासना करे कोई हानि नहीं है। तत्त्वको समझकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक उपासना करनेसे सभी उस एक प्रेमास्पद परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं।

सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी उपासना

श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहासादि शास्त्रोंमें इस गुणमयी विद्या-अविद्यारूपा मायाशक्तिको प्रकृति, मूल प्रकृति, महामाया, योगमाया आदि अनेक नामोंसे कहा है। उस मायाशक्तिकी व्यक्त और अव्यक्त यानी साम्यावस्था तथा

****

विकृतावस्था दो अवस्थाएँ हैं। उसे कार्य, कारण एवं व्याकृत, अव्याकृत भी कहते हैं। तेईस तत्त्वोंके विस्तारवाला यह सारा संसार तो उसका व्यक्त स्वरूप है। जिससे सारा संसार उत्पन्न होता है और जिसमें यह लीन हो जाता है वह उसका अव्यक्त स्वरूप है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥

(गीता ८। १८)

अर्थात् 'सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं।'

संसारकी उत्पत्तिका कारण कोई परमात्माको और कोई प्रकृतिको तथा कोई प्रकृति और परमात्मा दोनोंको बतलाते हैं। विचार करके देखनेसे सभीका कहना ठीक है। जहाँ संसारकी रचयिता प्रकृति है वहाँ समझना चाहिये कि पुरुषके सकाशसे ही गुणमयी प्रकृति संसारको रचती है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(गीता ९। १०)

अर्थात् 'हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है।'

जहाँ संसारका रचयिता परमेश्वर है वहाँ सृष्टिके रचनेमें प्रकृति द्वार है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

(गीता ९। ८)

अर्थात् 'अपनी त्रिगुणमयी मायाको अङ्गीकार करके स्वभावके वशसे

****

परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बारंबार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ।'

वास्तवमें प्रकृति और पुरुष दोनोंके संयोगसे ही चराचर संसारकी उत्पत्ति होती है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

(गीता १४। ३)

अर्थात् 'हे अर्जुन! मेरी महद्ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।'

क्योंकि विज्ञानानन्दघन, गुणातीत परमात्मा निर्विकार होनेके कारण उसमें क्रियाका अभाव है और त्रिगुणमयी माया जड होनेके कारण उसमें भी क्रियाका अभाव है। इसलिये परमात्माके सकाशसे जब प्रकृतिमें स्पन्द होता है तभी संसारकी उत्पत्ति होती है। अतएव प्रकृति और परमात्माके संयोगसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं। महाप्रलयमें कार्यसहित तीनों गुण कारणमें लय हो जाते हैं तब उस प्रकृतिकी अव्यक्तस्वरूप साम्यावस्था हो जाती है। उस समय सारे जीव स्वभाव, कर्म और वासनासहित उस मूल प्रकृतिमें तन्मय-से हुए अव्यक्तरूपसे स्थित रहते हैं। प्रलयकालकी अवधि समाप्त होनेपर उस माया-शक्तिमें ईश्वरके सकाशसे स्फूर्ति होती है, तब विकृत अवस्थाको प्राप्त हुई प्रकृति तेईस तत्त्वोंके रूपमें परिणत हो जाती है, तब उसे व्यक्त कहते हैं। फिर ईश्वरके सकाशसे ही वह गुण, कर्म और वासनाके अनुसार फल भोगनेके लिये चराचर जगत्को रचती है।

त्रिगुणमयी प्रकृति और परमात्माका परस्पर आधेय और आधार एवं व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध है। प्रकृति आधेय और परमात्मा आधार है। प्रकृति

व्याप्य और परमात्मा व्यापक है। नित्य चेतन, विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें चराचर जगत्के सहित प्रकृति है। जैसे तेज, जल, पृथ्वीके सहित वायु आकाशके आधार है, वैसे ही यह परमात्माके आधार है। जैसे बादल आकाशसे व्याप्त है, वैसे ही परमात्मासे प्रकृतिसहित यह सारा संसार व्याप्त है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

(गीता ९।६)

अर्थात् 'जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे सङ्कल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मेरेमें स्थित हैं—ऐसे जान।'

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(गीता १०।४२)

अर्थात् 'अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है? मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'

ईशा वास्यमिदँ् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्॥

(ईश० १)

अर्थात् 'त्रिगुणमयी मायामें स्थित यह सारा चराचर जगत् ईश्वरसे व्याप्त है।'

किन्तु उस त्रिगुणमयी मायासे वह लिपायमान नहीं होता; क्योंकि विज्ञानानन्दघन परमात्मा गुणातीत, केवल और सबका साक्षी है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।।

(श्वेता० ६ । ११)

अर्थात् 'जो देव सब भूतोंमें छिपा हुआ, सर्वव्यापक, सर्वभूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, सब भूतोंका आश्रय, सबका साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण यानी सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंसे परे है, वह एक है।'

इस प्रकार गुणोंसे अतीत परमात्माको अच्छी प्रकार जानकर मनुष्य इस संसारके सारे दुःखों और क्लेशोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। इसके जाननेके लिये सबसे सहज उपाय उस परमेश्वरकी अनन्य शरण है। इसलिये उस सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सच्चिदानन्द परमात्माकी सर्वप्रकारसे शरण होना चाहिये।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

(गीता ७ । १४)

अर्थात् 'क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

विद्या-अविद्यारूप त्रिगुणमयी यह महामाया बड़ी विचित्र है। इसे कोई अनादि, अनन्त और कोई अनादि, सान्त मानते हैं तथा कोई इसको सत् और कोई असत् कहते हैं एवं कोई इसको ब्रह्मसे अभिन्न और कोई इसे ब्रह्मसे भिन्न बतलाते हैं। वस्तुतः यह माया बड़ी विलक्षण है, इसलिये इसको अनिर्वचनीय कहा है।

अविद्या—दुराचार, दुर्गुणरूप, आसुरी, राक्षसी, मोहिनी प्रकृति, महत्तत्त्वका कार्यरूप यह सारा दृश्यवर्ग इसीका विस्तार है।

विद्या—भक्ति, पराभक्ति, ज्ञान, विज्ञान, योग, योगमाया, समष्टि बुद्धि,

शुद्ध बुद्धि, सूक्ष्म बुद्धि, सदाचार, सद्गुणरूप दैवी सम्पदा यह सब इसीका विस्तार है।

जैसे ईंधनको भस्म करके अग्नि स्वतः शान्त हो जाता है, वैसे ही अविद्याका नाश करके विद्या स्वतः ही शान्त हो जाती है, ऐसे मानकर यदि मायाको अनादि-सान्त बतलाया जाय तो यह दोष आता है कि यह माया आजसे पहले ही सान्त हो जानी चाहिये थी। यदि कहें भविष्यमें सान्त होनेवाली है तो फिर इससे छूटनेके लिये प्रयत्न करनेकी क्या आवश्यकता है ? इसके सान्त होनेपर सारे जीव अपने-आप ही मुक्त हो जायँगे। फिर भगवान् किसलिये कहते हैं कि यह त्रिगुणमयी मेरी माया तरनेमें बड़ी दुस्तर है; किन्तु जो मेरी शरण हो जाते हैं, वे इस मायाको तर जाते हैं।

यदि इस मायाको अनादि, अनन्त बतलाया जाय तो इसका सम्बन्ध भी अनादि, अनन्त होना चाहिये। सम्बन्ध अनादि, अनन्त मान लेनेसे जीवका कभी छुटकारा हो ही नहीं सकता और भगवान् कहते हैं कि क्षेत्र, क्षेत्रज्ञके अन्तरको तत्त्वसे समझ लेनेपर जीव मुक्त हो जाता है—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(गीता १३।३४)

अर्थात् 'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको * तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं।'

इसलिये इस मायाको अनादि, अनन्त भी नहीं माना जा सकता। इसे न तो सत् ही कहा जा सकता है और न असत् ही। असत् तो इसलिये नहीं कहा जा सकता कि इसका विकाररूप यह सारा संसार प्रत्यक्ष प्रतीत होता

---

*क्षेत्रको जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् तथा क्षेत्रज्ञको नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही उनके भेदको जानना है।

****

है और सत् इसलिये नहीं बतलाया जाता कि यह दृश्य जडवर्ग सर्वदा परिवर्तनशील होनेके कारण इसकी नित्य सम स्थिति नहीं देखी जाती।

इस मायाको परमेश्वरसे अभिन्न भी नहीं कह सकते; क्योंकि माया यानी प्रकृति जड, दृश्य, दुःखरूप विकारी है और परमात्मा चेतन, द्रष्टा, नित्य, आनन्दरूप और निर्विकार हैं। दोनों अनादि होनेपर भी परस्पर इनका बड़ा भारी अन्तर है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

(श्वेता० ४।१०)

'त्रिगुणमयी मायाको तो प्रकृति (तेईस तत्त्व जडवर्गका कारण) तथा मायापतिको महेश्वर जानना चाहिये।'

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

(श्वेता० ५।१)

'जिस सर्वव्यापी, अनन्त, अविनाशी, परब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मामें विद्या, अविद्या दोनों गूढभावसे स्थित हैं। अविद्या क्षर है, विद्या अमृत है (क्योंकि विद्यासे अविद्याका नाश होता है) तथा जो विद्या, अविद्यापर शासन करनेवाला है, वह परमात्मा दोनोंसे ही अलग है।'

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

(गीता १५।१८)

अर्थात् 'क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।'

***

तथा इस मायाको परमेश्वरसे भिन्न भी नहीं कह सकते। क्योंकि वेद और शास्त्रोंमें इसे ब्रह्मका रूप बतलाया है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३। १४। १)

'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता ७। १९)

'सदसच्चाहमर्जुन' (गीता ९। १९)

तथा माया ईश्वरकी शक्ति है और शक्तिमान्‌से शक्ति अभिन्न होती है। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निसे अभिन्न है, इसलिये परमात्मासे इसे भिन्न भी नहीं कह सकते।

चाहे जैसे हो तत्त्वको समझकर उस परमात्माकी उपासना करनी चाहिये। तत्त्वको समझकर की हुई उपासना ही सर्वोत्तम है। जो उस परमेश्वरको तत्त्वसे समझ जाता है, वह उसको एक क्षण भी नहीं भूल सकता; क्योंकि सब कुछ परमात्मा ही है। इस प्रकार समझनेवाला परमात्माको कैसे भूल सकता है ? अथवा जो परमात्माको सारे संसारसे उत्तम समझता है, वह भी परमात्माको छोड़कर दूसरी वस्तुको कैसे भज सकता है ? यदि भजता है तो परमात्माके तत्त्वको नहीं जानता; क्योंकि यह नियम है कि मनुष्य जिसको उत्तम समझता है उसीको भजता है यानी ग्रहण करता है।

मान लीजिये एक पहाड़ है। उसमें लोहे, ताँबे, शीशे और सोनेकी चार खानें हैं। किसी ठेकेदारने परिमित समयके लिये उन खानोंको ठेकेपर ले लिया और वह उससे माल निकालना चाहता है तथा चारों धातुओंमेंसे किसीको भी निकाले, समय करीब-करीब बराबर ही लगता है। इन चारोंकी कीमतको जाननेवाला ठेकेदार सोनेके रहते हुए सोनेको छोड़कर क्या लोहा, ताँबा, शीशा निकालनेके लिये अपना समय लगा सकता है ? कभी नहीं। सर्व प्रकारसे वह तो केवल सुवर्ण ही निकालेगा। वैसे ही माया और परमेश्वरके तत्त्वको जाननेवाला परमेश्वरको छोड़कर नाशवान् क्षणभङ्गुर भोग और अर्थके लिये अपने अमूल्य समयको कभी नहीं लगा सकता। वह सब प्रकारसे निरन्तर

परमात्माको ही भजेगा।

गीतामें भी कहा है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५। १९)

अर्थात् 'हे अर्जुन! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।'

इस प्रकार ईश्वरकी अनन्य भक्ति करनेसे मनुष्य परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है। इसलिये श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमभावसे नित्य निरन्तर परमेश्वरका भजन, ध्यान करनेके लिये प्राणपर्यन्त प्रयत्नशील रहना चाहिये।

गीतामें चतुर्भुज रूप

एक सज्जनका प्रश्न है कि भगवान्‌ने गीताके ११वें अध्यायके ४५वें और ४६वें श्लोकमें अर्जुनके प्रार्थना करनेपर कौन-सा रूप दिखलाया ? वह मनुष्यरूप था या देवरूप ? यदि देवरूप था तो अर्जुनने ४१वें एवं ४२वें श्लोकमें प्रभाव नहीं जाननेकी बात कैसे कही ?

उत्तर

श्रीमद्भगवद्गीताके ११वें अध्यायके ४५वें श्लोकमें अर्जुनने कहा है—

तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ।

इस श्लोकार्धका अर्थ—'हे देव ! आप उसी रूपको मेरे लिये दिखलाइये, हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये' यह भी हो सकता है, और 'हे देवेश ! आप उसी देवरूपको मेरे लिये दिखलाइये, हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये' यह भी हो सकता है। 'देव' शब्दके साथ 'रूपम्' का समास कर देनेसे 'देवरूप' स्पष्ट हो जाता है। अलग-अलग रखनेसे 'देव' सम्बोधन हो जाता है। वहीं 'देवेश' सम्बोधन है इसलिये 'देव' सम्बोधनकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु यदि 'देव' सम्बोधन मान लिया तो भी कोई आपत्ति नहीं है। प्रायः संस्कृत टीकाकारोंने सम्बोधन ही माना है। गीताप्रेसकी साधारण टीकामें भी सम्बोधन माना गया है। ऐसा मानकर भी अर्जुनकी प्रार्थनाका भाव 'देवरूप' दिखलानेमें ही है ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि ४६वें श्लोकमें अर्जुन स्पष्ट कहते हैं—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥

'मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए, गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उस ही चतुर्भुजरूपसे युक्त हो जाइये।'

भगवान् श्रीकृष्ण भी समय-समयपर चतुर्भुजरूपसे, केवल अर्जुनको ही नहीं, दूसरोंको भी दर्शन दिया करते थे, जिसके लिये महाभारत और भागवत आदि ग्रन्थोंमें प्रमाण मिलते हैं—

पर्यङ्कादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः।

(श्रीमद्भा० १०।६०।२६)

'पलंगसे शीघ्र उतरकर नीचे पड़ी हुई रुक्मिणीको चतुर्भुज भगवान्‌ने उठाया।'

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम्॥

(श्रीमद्भा० १०।८६।५४)

'यह मेरा चतुर्भुजरूप भी मुझे ब्राह्मणोंसे अधिक प्रिय नहीं है क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय हैं और मैं सर्वदेवमय हूँ।'

तया स सम्यक् प्रतिनन्दितस्तत-
स्तथैव सर्वैर्विदुरादिभिस्तथा।
विनिर्ययौ नागपुराद्गदाग्रजो
रथेन दिव्येन चतुर्भुजः स्वयम्॥

(महा० आश्व० ५२।५४)

'कुन्तीने भलीभाँति आशीर्वाद दिया, विदुर आदि सबने सम्मान किया, तब चतुर्भुज श्रीकृष्ण स्वयं दिव्य रथमें बैठकर हस्तिनापुरसे बाहर निकले।'

सोऽयं पुरुषशार्दूलो मेघवर्णश्चतुर्भुजः।
संश्रितः पाण्डवान् प्रेम्णा भवन्तश्चैनमाश्रिताः॥

(महा० अनु० १४८।२२)

'वे पुरुषोंमें सिंहके समान हैं, मेघवर्ण हैं, चार भुजावाले हैं, वे प्रेमके कारण तुम पाण्डवोंके अधीन हैं और तुमने उनका आश्रय लिया है।'

इन प्रमाणोंसे तो चतुर्भुज मनुष्यरूप मान लेनेमें भी कोई आपत्ति नहीं आती, परन्तु यहाँ वैसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि ४८वें श्लोकमें भगवान्ने, **'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः'** आदि कहकर विश्वरूपकी प्रशंसा की है फिर आगे चलकर ५३वें श्लोकमें भी **'नाहं वेदैर्न तपसा'** आदि कहकर करीब-करीब इसी प्रकारकी प्रशंसा पुनः की है। यह प्रशंसा विश्वरूपकी नहीं मानी जा सकती; क्योंकि अत्यन्त समीपमें इस प्रकार पुनरुक्तिदोष आना युक्तिसंगत नहीं है।

दूसरे, वहाँ ५४ वें श्लोकमें यह कहा गया है कि अनन्यभक्तिके द्वारा मैं अपना ऐसा रूप दिखा सकता हूँ, परन्तु विश्वरूपके लिये भगवान् पहले कह चुके हैं कि 'यह मेरा परम तेजोमय विश्वरूप तेरे सिवा दूसरे किसीने पहले नहीं देखा। मनुष्यलोकमें इस विश्वरूपको मैं वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपसे भी तेरे सिवा दूसरेको नहीं दिखा सकता।' इसका यह अर्थ नहीं कि अनन्यभक्तिके द्वारा भगवान्का विश्वरूप नहीं देखा जा सकता, या यह भी अर्थ नहीं कि श्रीभगवान् विश्वरूपके दिखलानेमें असमर्थ हैं। अभिप्राय यह है कि जैसा रूप अर्जुनको दिखलाया, वैसा दूसरेको नहीं दिखाया जा सकता। क्योंकि वह महाभारतकालका रूप है। भीष्मादि दोनों सेनाओंके वीर भगवान्के दाढ़ोंमें हैं। यह रूप सदा एक-सा नहीं रहता, बदलता रहता है, इसीलिये भगवान्ने स्पष्ट कहा कि 'इस नर-लोकमें दूसरे किसीने न तो यह रूप पहले देखा है और न आगे देख सकता है। यद्यपि सञ्जयने भी यह रूप देखा था परन्तु वह समकालीन था। भगवान् श्रीकृष्णने गीतासे पूर्व एक बार कौरवोंकी राजसभामें विश्वरूप दिखलाया था, परन्तु वह रूप इस विश्वरूपसे भिन्न था। तीसरी बात यह है कि इस विशाल विश्वरूपको देखनेके लिये दिव्य चक्षुकी आवश्यकता थी। भगवान्ने **'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्'**

कहकर अर्जुनको विश्वरूप देखनेके लिये दिव्य चक्षु दिये थे, परन्तु यहाँ दिव्य चक्षुकी कोई बात नहीं है। अनन्यभक्ति करनेवाला कोई भी उस स्वरूपको देख सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ५२ से ५४ श्लोकमें की गयी महिमा विश्वरूपकी नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि वह महिमा विश्वरूपकी तो नहीं है, परन्तु भगवान्‌के चतुर्भुज मनुष्यरूपकी है तो यह भी युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि वहाँ ५२वें श्लोकमें कहा गया है कि मेरा यह दुर्लभ रूप जो तुमने देखा है, इस रूपको देखनेकी देवता भी सदा आकाङ्क्षा करते हैं—**'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः'**—देवता मनुष्यरूप चतुर्भुजकी आकाङ्क्षा क्यों करने लगे ? वह तो मनुष्योंको भी दीख सकता था, फिर देवताओंके लिये कौन-सी दुर्लभ बात थी ? यदि यह कहा जाय कि देवता विश्वरूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा करते हैं सो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि जिसके मुखारविन्दमें दोनों सेनाओंके वीर जा रहे हैं और चूर्ण हो रहे हैं, ऐसे घोर रूपके दर्शनकी आकाङ्क्षा देवतागण क्यों करेंगे ? इससे यही सिद्ध होता है कि दूसरी बार की हुई महिमा भगवान्‌के देवरूप चतुर्भुजकी है। अर्जुनके **'गदिनं चक्रिणम्'** शब्दोंसे भी यही सिद्ध होता है, क्योंकि नररूप भगवान् तो युद्धमें शस्त्र ग्रहण न करनेकी दुर्योधनसे प्रतिज्ञा कर चुके थे। फिर गदादि धारण करनेके लिये अर्जुन उनसे क्योंकर कहते ! सञ्जयके वचनोंसे भी यही सिद्ध होता है कि पहले भगवान्‌ने अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार अपना चतुर्भुज देवरूप दिखलाया, फिर तुरंत ही सौम्यवपु द्विभुज मनुष्यरूप होकर अर्जुनको आश्वासन दिया।

चतुर्भुज देवरूपके प्राकट्यके बाद और मनुष्यरूप होनेके पूर्व अर्जुनकी कैसी स्थिति रही इसका कोई वर्णन नहीं मिलता। भगवान्‌के मनुष्यरूप हो जानेके बाद ही अर्जुन अपनी स्थितिका वर्णन करते हैं कि 'अब मैं अपनी प्रकृतिको प्राप्त हो गया।' इससे अनुमान होता है कि भगवान् श्रीकृष्णके सौम्य मनुष्यरूप धारण करनेपर ही अर्जुन अपनी पूर्व स्थितिमें आये। चतुर्भुज

****

देवरूप-दर्शनके समय उनकी स्थिति सम्भवतः आश्चर्ययुक्त और हर्षोन्मत्त-सी हो गयी होगी। किन्तु इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसीसे बहुत-से संस्कृत-टीकाकारोंने चतुर्भुज देवरूपके प्रकट होनेका वर्णन नहीं किया। परन्तु सञ्जयके कथनमें इसका स्पष्ट वर्णन है, सञ्जय कहते हैं—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥

(गीता ११। ५०)

इस श्लोकका सरल और स्पष्ट अन्वय यों होता है—

वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा भूयः तथा स्वकं रूपं दर्शयामास च पुनः महात्मा सौम्यवपुः भूत्वा एनं भीतम् आश्वासयामास।

अर्थात् 'वासुदेव भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज (देव) रूपको दिखाया और फिर महात्मा कृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत हुए अर्जुनको धीरज दिया।'

उपर्युक्त आधे श्लोकके '**भूयः तथा स्वकं रूपं दर्शयामास**' इन वचनोंसे यह सिद्ध है कि श्रीभगवान्‌ने ४९ वें श्लोकमें जो यह—'**व्यपेतभीः प्रीतमनाः त्वं तद् एव मे इदं रूपं पुनः प्रपश्य।**' अर्थात् 'भयरहित हुआ प्रीतियुक्त मनवाला तू मेरे उसी रूपको देख' कहा था, वही अर्जुनका वाञ्छनीय देवरूप दिखलाया। इसके बादके आधे उत्तरार्धमें पुनः सौम्य मनुष्यवपु होकर धीरज देनेकी बात आ गयी।

ऐसा सीधा अन्वय न लगाकर कोई-कोई '**सौम्यवपु**' को '**स्वकं रूपम्**' का विशेषण मान लेते हैं; परन्तु वैसा नहीं बन सकता; क्योंकि '**स्वकं रूपम्**' द्वितीया विभक्तिका एकवचन और कर्म है, यहाँ '**सौम्यवपु**' महात्मा कृष्णका विशेषण है और कर्तामें प्रथमा विभक्तिका एकवचन है। इसके सिवा ऐसा

****

माननेमें 'भूत्वा' अव्यय भी व्यर्थ हो जाता है। कोई-कोई क्लिष्ट कल्पना करके खींचतानकर ऐसा अन्वय करते हैं—

महात्मा वासुदेवः अर्जुनम् इति उक्त्वा पुनः सौम्यवपुः भूत्वा तथा स्वकं रूपं दर्शयामास च एनं भीतं पुनः आश्वासयामास।

इस अन्वयके अनुसार ऐसा अर्थ बनता है कि भगवान् पहले **सौम्यवपु** हुए और तब अर्जुनको अपना रूप दिखलाया। जब **सौम्यवपु** हो ही गये तो फिर दिखलाया क्या, **सौम्यवपु** होते ही अर्जुनने देख ही लिया। '**भूत्वा**' अव्यय किसी दूसरी क्रियाकी अपेक्षा करता है और वह क्रिया '**आश्वासयामास**' ही होनी चाहिये क्योंकि वही नजदीकमें है। परन्तु इसको न लेकर '**स्वकं रूपं दर्शयामास**' क्रिया लेनेसे अन्वयकी कल्पना अत्यन्त क्लिष्ट हो जाती है और अर्थ भी ठीक नहीं बैठता। 'महात्मा' शब्दको भी 'वासुदेव' का विशेषण नहीं लेना चाहिये; क्योंकि वह '**सौम्यवपु**' के समीप है। परमार्थप्रथा-टीकामें भी यही अर्थ लिया गया है कि भगवान्‌ने पहले चतुर्भुज देवरूप दिखलाया, पीछे **सौम्यवपु** होकर आश्वासन दिया।

अब यह शङ्का रह जाती है कि अर्जुनने ४५वें श्लोकमें **तदेव (तद् एव)** और ४६ वें श्लोकमें **तेनैव (तेन एव)** यानी उसी रूपको देखनेकी प्रार्थना की है। यहाँ इन '**तत्**' और '**तेन**' शब्दोंसे यह अर्थ निकलता है कि अर्जुनका सङ्केत पहले देखे हुए स्वरूपको देखनेके लिये ही है। यदि यह कहा जाय कि '**तत्**' शब्दसे अत्यन्त समीपका रूप लिया जानेके कारण मनुष्यरूप ही मिलता है सो ठीक है, परन्तु उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो चुका है कि अर्जुनकी प्रार्थना मनुष्यरूप दिखलानेकी नहीं, देवरूप दिखलानेके लिये थी। तब यह शङ्का होती है कि 'क्या वह देवरूप पहले कभी अर्जुनने देखा था और यदि देखा था तो फिर ४१वें और ४२वें श्लोकोंमें प्रभाव न जाननेकी बात उसने कैसे कही?' इस शङ्काका समाधान यह है कि अर्जुनके '**देवरूपं किरीटिनं गदिनम्**' '**तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन**' आदि शब्दोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि

अर्जुनने किसी समय भगवान्‌के देवस्वरूपका गुप्तरूपसे दर्शन किया था, तभी इतने विशेषणोंसे उसका लक्ष्य करवा रहा है, नहीं तो **'तदेव मे दर्शय देव रूपम्'** इतना ही कहना काफी था, अन्य किसी विशेषणकी आवश्यकता ही नहीं थी। चतुर्भुज देवरूपसे अर्जुनके दर्शन करनेका वर्णन महाभारतमें इससे पूर्व कहीं आया हो तो मुझे ध्यान नहीं है। किन्तु वर्णन न भी आया हो तो भी इन शब्दोंसे यही मान लेना चाहिये कि अर्जुनने किसी समय पहले चतुर्भुज देवस्वरूपका दर्शन किया था। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सभी लीलाएँ ग्रन्थोंमें नहीं लिखी गयीं; उनके चरित्रोंका विस्तारसे वर्णन नहीं मिलता है और यह बात भी गुप्त थी, इसीसे **'तदेव'** 'वही' कहकर अर्जुन इशारा करते हैं।

अब रही प्रभाव न जाननेकी बात, सो यद्यपि ४१वें और ४२वें श्लोकमें आये हुए शब्दोंसे यह प्रतीत होता है कि मानो अर्जुन भगवान्‌के प्रभावको नहीं जानते थे, परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। अपनी लघुता दिखलाना तो भक्तोंका स्वभाव ही होता है। क्योंकि प्रभावके सम्बन्धमें स्वयं अर्जुनने गीतामें इससे पहले कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

(१०। १२-१३)

'आप परम ब्रह्म, परम धाम एवं परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष, देवोंके भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद, असित, देवल ऋषि, महर्षि व्यास और स्वयं आप भी मेरे प्रति कहते हैं।'

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।

****

अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

(गीता ११ । ३७-३८)

'हे महात्मन् ! ब्रह्माके आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार नहीं करें, क्योंकि हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है वह आप ही हैं। और हे प्रभो ! आप आदिदेव सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जाननेयोग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।'

इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन भगवान्के प्रभावको जानते थे और उनके प्रेमी भक्त थे। न जानते होते तो ऐसे वचन क्योंकर कहते और क्यों स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे उन्हें '**भक्तोऽसि मे सखा चेति**' कहते और क्यों उनके रथके घोड़े हाँकनेका काम करते। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे साक्षात् परमात्मा मानते थे, परन्तु कभी न देखे हुए भयङ्कर विराट्रूपको देखकर उन्हें आश्चर्यचकित और भयभीत होकर ४१वें और ४२वें श्लोकमें वैसे वचन कह दिये। इसीलिये भगवान्ने आश्वासन देते हुए उन्हें '**मा ते व्यथा मा च विमूढभावः व्यपेतभीः**' आदि कहकर एवं अपने देवरूपके दर्शन करवाकर निर्भय और शान्त किया। यदि भगवान्का प्रभाव जाननेमें अर्जुनकी यत्किञ्चित् कमी मानी जाय तो गीताके उपदेशसे उनकी भी सर्वथा पूर्ति हो गयी।

इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्णने विश्वरूपके बाद अर्जुनको चतुर्भुज देवरूपसे दर्शन दिये और फिर सौम्यवपु द्विभुज मनुष्यरूप होकर उन्हें आश्वासन दिया।

——::×::——

गीतोक्त साम्यवाद

आजकल संसारमें साम्यवादकी बड़ी चर्चा है। सब बातोंमें समताका व्यवहार हो, इसीको लोग साम्यवाद समझ रहे हैं और ऐसा ही उद्योग कर रहे हैं जिससे व्यवहारमात्रमें समता आ जाय। परन्तु विचारकर देखनेसे पता लगता है कि परमात्माकी इस विषम सृष्टिमें सभी व्यवहारोंमें समता कभी हो ही नहीं सकती और होनेकी आवश्यकता भी नहीं है। न संसारमें सबकी आकृति एक-सी है, न बुद्धि, बल, शरीर, स्वभाव, गुण और कर्म आदिमें ही समता है। ऐसी अवस्थामें देश, काल, पात्र और पदार्थोंमें सर्वत्र समानभावसे समता कदापि सम्भव नहीं है। इसीसे ऐसा साम्यवाद सफल नहीं होता और न कभी हो सकता है।

यथार्थ साम्यवादका विकास भारतीय ऋषियोंकी प्रज्ञासे हुआ था, जिसका वर्णन हमारे शास्त्रोंमें खूब मिलता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें तो श्रीभगवान्‌ने जीवन्मुक्तका प्रधान लक्षण 'समता' ही प्रतिपादन किया है। यह 'समता' ही सर्वोच्च साम्यवाद है, यही सच्ची एकता है, यही परमेश्वरका स्वरूप है। यह धर्ममय है, इसमें अमर्यादित उच्छृङ्खल जीवनको अवकाश नहीं है, यह परम आस्तिक है, रसमय है, शान्तिप्रद है, रहस्यमय है, समस्त दुःखोंका सदाके लिये नाश करनेवाला है, मुक्ति देनेवाला है अथवा साक्षात् मुक्तिरूप ही है; इसमें स्थित होनेका नाम ही ब्राह्मी स्थिति है। जो पुरुष इस साम्यवादमें स्थित है वही स्थितप्रज्ञ है, वही गुणातीत है, वही ज्ञानी है, वही भक्त है और वही जीवन्मुक्त है। यह साम्यवाद केवल कल्पना नहीं है; आचरणके योग्य है और इसका आचरण सभी कोई कर सकते हैं, यह समता ही परमात्मा है। जिसने सर्वत्र ऐसी समता प्राप्त कर ली, उसने मानो समस्त संसारको जीतकर परमात्माको ही प्राप्त कर लिया। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥

(५ । १९)

'जिनका मन समत्वभावमें स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया, अर्थात् वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

जहाँ यह समता है, वहीं सर्वोच्च न्याय है; न्याय ही सत्य है और सत्य परमात्माका स्वरूप है; जहाँ परमात्मा है, वहाँ नास्तिकता, अधर्म-भावना, काम, क्रोध, लोभ, मोह, असत्य, कपट, हिंसा आदिके लिये गुंजाइश ही नहीं है। अतएव जहाँ यह समता है, वहाँ सम्पूर्ण अनर्थोंका अत्यन्त अभाव होकर सम्पूर्ण सद्गुणोंका विकास आप ही हो जाता है। क्योंकि अनुकूलता-प्रतिकूलतासे ही राग-द्वेषादि सब दोषों और दुराचारोंकी उत्पत्ति होती है और समतामें इनका अत्यन्त अभाव है, इसलिये वहाँ किसी प्रकारके दोष और दुराचारके लिये स्थान नहीं है।

समता साक्षात् अमृत है, विषमता ही विष है ? यह बात संसारमें प्रत्यक्ष देखी जाती है। इसलिये सम्पूर्ण पदार्थों, सम्पूर्ण क्रियाओं और सम्पूर्ण चराचर भूतोंमें जिनकी समता है वे ही सच्चे महापुरुष हैं। इस समताका तत्त्व सुगमताके साथ भलीभाँति समझानेके लिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें अनेकों प्रकारसे सम्पूर्ण क्रिया, भाव, पदार्थ और भूतप्राणियोंमें समताकी व्याख्या की है। जैसे—

मनुष्योंमें समता

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

(६ । ९)

'(जो पुरुष) सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओं और पापियोंमें भी समानभाववाला है, वह अति श्रेष्ठ है।'

मनुष्यों और पशुओंमें समता

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५। १८)

'ज्ञानीजन विद्याविनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी और कुत्तेमें एवं चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले होते हैं।'

सम्पूर्ण जीवोंमें समता

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी (सबमें सम देखता है), वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

कहीं-कहींपर भगवान्‌ने व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ और भावकी समताका एक ही साथ वर्णन किया है। जैसे—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

(१२। १८)

'(जो पुरुष) शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिमें सम है और (सब संसारमें) आसक्तिसे रहित है (वह भक्त है)।'

यहाँ शत्रु-मित्र 'व्यक्ति'के वाचक हैं, मान-अपमान 'परकृत क्रिया' हैं, शीत-उष्ण 'पदार्थ' हैं और सुख-दुःख 'भाव' हैं।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥

(गीता १४ । २४)

'(जो) निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है, (तथा) मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है, (तथा) जो प्रिय और अप्रियको तुल्य समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है (वही गुणातीत) है।'

इसमें भी दुःख-सुख 'भाव' हैं, लोष्ट, अश्म और काञ्चन 'पदार्थ' हैं, प्रिय-अप्रिय 'सर्ववाचक' हैं और निन्दा-स्तुति 'परकृत क्रिया' हैं।

इस प्रकार जो सर्वत्र समदृष्टि है, व्यवहारमें अहंता-ममता रहते हुए भी जो सबमें सर्वत्र समबुद्धि रहता है, जिसका समष्टिरूप समस्त संसारमें आत्मभाव है वह समता-युक्त पुरुष है, और वही सच्चा साम्यवादी है।

इस समताका सम्बन्ध प्रधानतया आन्तरिक भावोंसे है; इसमें सर्वत्र समदर्शन है, समवर्तन नहीं है। यह समत्व बाहरी व्यवहारोंमें सर्वत्र एक-सा नहीं है। बाहरी व्यवहारोंमें तो दाम्भिक और शास्त्रकी अवहेलना करनेवाले भी ऐसा कर सकते हैं। इस समताका रहस्य इतना गूढ़ है कि क्रिया और व्यवहारमें यथायोग्य भेद रहते हुए भी इसमें वस्तुतः कोई बाधा नहीं आती। बल्कि देश, काल, जाति और पदार्थोंकी विभिन्नताके कारण कहीं-कहीं तो बाहरी व्यवहारमें विषमता न्यायसङ्गत और आवश्यक समझी जाती है। परन्तु वह विषमता न तो दूषित है और न उससे असली समतामें कोई अड़चन ही आती है।

एक विपद्ग्रस्त देश है और दूसरा सम्पन्न है, इन दोनों देशोंमें व्यवहारमें विषमता रहेगी ही; विपद्ग्रस्त देशकी सेवा करना आवश्यक होगा, सम्पन्न

देशकी नहीं। व्यवहारकी इस विषमताकी आवश्यकताको कौन दूषित बतला सकता है ? हाँ, उस विपत्तिग्रस्त देशमें यदि ममता और स्वार्थके भावसे दुःखी लोगोंकी सेवामें भेद किया जाय तो वह विषमता अवश्य दूषित है। मान लीजिये, एक जगह बाढ़ आ गयी; लोग डूब रहे हैं। वहाँ यदि यह भाव हो कि अमुक यूरोपियन है, हम भारतीय हैं, इससे भारतीयको ही बचावेंगे, यूरोपियनको नहीं; अथवा अमुक मुसलमान है, हम हिन्दू हैं, हम अपनी जातिवालेकी रक्षा करेंगे, विजातीयकी नहीं। इस प्रकारकी देश और जातिगत आन्तरिक भेदबुद्धिजनित विषमता अवश्य दूषित है। आपत्तिकालमें देश, काल, जाति और कुटुम्बका अभिमान त्याग कर सबकी समभावसे सेवा करनी चाहिये। ममता, स्वार्थ और आसक्तिवश जो देश, काल, पदार्थ, जाति आदिमें विषमताका व्यवहार किया जाता है वास्तवमें वही विषमता है ऐसी विषमता महापुरुषोंमें नहीं होती।

इसी प्रकार काल-भेदसे भी व्यवहारमें विषमता रहती है, हम रातको सोते हैं, दिनमें व्यवहार करते हैं, प्रातःसायं सन्ध्या-वन्दनादि ईश्वरोपासना करते हैं; यह विषमता आवश्यक है। ऐसे ही जिस समय दुर्भिक्ष पड़ता है, उसी समय अन्नदान दिया जाता है। जलदान ग्रीष्ममें आवश्यक है, सर्दीमें उतना नहीं। वस्त्रदान शीतमें आवश्यक है, गर्मीमें इतना नहीं। अग्नि जलाकर जाड़ेमें तापा जाता है, गर्मीमें नहीं। छाता वर्षाकालमें लगाया जाता है, जाड़ेमें नहीं लगाया जाता। परन्तु यह विषमताका व्यवहार सर्वथा युक्तियुक्त ही नहीं, आवश्यक माना जाता है।

खान-पान और व्यवहारमें गौ, कुत्ते, हाथी, चाण्डाल और ब्राह्मणमें विषमता सर्वथा युक्तियुक्त है। गौ और हाथीका खाद्य घास-पात है, मनुष्यका नहीं। कुत्ता मांस भी खाता है, परन्तु वह गौ तथा हाथीके लिये उपयोगी नहीं; मनुष्यके लिये तो अत्यन्त ही अनुपयोगी है। इन सबका परस्पर एक दूसरेके साथ खान-पान कभी सम्भव नहीं। कोई भी बुद्धिमान् पुरुष इन पाँचों

****

प्राणियोंके साथ व्यवहारमें समताका प्रतिपादन नहीं कर सकता। मनुष्य और पशुकी बात तो अलग रही, तीनों पशुओंमें भी व्यवहारमें बड़ी विषमता है। हाथीकी जगह कुत्तेपर सवारी कोई नहीं कर सकता, गौकी जगह कुतियाका दूध नहीं पिया जा सकता। जो लोग समदर्शनको समवर्तन सिद्ध कर व्यवहारमें अभेद लाना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसका मर्म ही नहीं समझते। इनका भेद तो प्रकृतिगत है जो किसी तरह भी मिटाया नहीं जा सकता। परन्तु हाँ, इन ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी, गौ और कुत्ते आदि किसी भी प्राणीको दुःखकी प्राप्ति होनेपर उसके दुःखको निवारण करके उसको सुख पहुँचानेके लिये वैसा ही समान व्यवहार करना चाहिये जैसा हम अपने हाथ, पैर, मस्तक आदिका दुःख निवारण करके सुख पहुँचानेके लिये करते हैं। इसी प्रकार 'आत्मत्व' भी सबमें ठीक वैसा ही होना चाहिये जैसा हमारा अपनी देहमें है। इसी समताका नाम समता है।

इसी प्रकार मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेमें भी व्यावहारिक भेद आवश्यक है। मिट्टीके ढेलेको सँभालकर रखनेकी जरूरत नहीं, परन्तु सोना सुरक्षित रखना पड़ता है। सोनेके बदले मिट्टी या पत्थरका आदान-प्रदान नहीं हो सकता। इनके संग्रह-ग्रहण, आदान-प्रदान, व्यवहार और मूल्य आदिमें विषमता रहती ही है; परन्तु हाँ, आन्तरिक भावमें इनमें भेद नहीं होना चाहिये। अपना सङ्कट-निवारण करनेके लिये जैसे धनको मिट्टीकी तरह समझकर खर्च किया जाता है, उसी प्रकार न्याय-प्राप्त होनेपर दूसरे प्राणीके हितके लिये भी धनको धूलके समान समझकर व्यवहार करना चाहिये। लोभवश धनका संग्रह करने और न्यायसङ्गत आवश्यकता आनेपर खर्च न करनेमें विषमता है। जहाँ यह विषमता होगी, वहाँ न्यायान्यायका विचार छोड़कर धनका संग्रह होगा और न्यायसङ्गत खर्चमें हिचकिचाहट होगी। अतएव अन्यायसे उपार्जन करनेके समय और न्याययुक्त खर्चके समय धनको धूलके समान सझकर वैसे उपार्जनसे हट जाना और खर्च करनेमें सङ्कोच नहीं करना चाहिये। यही

****

'**समलोष्टाश्मकाञ्चनः**' है। एकके कुछ भी धन नहीं है, दूसरा धन और भोग-पदार्थोंका संग्रह करता है; परन्तु यदि वह अपने और कुटुम्बके लिये या भोगसुखके लिये न करके सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके हितके लिये ही करता है तो इस संग्रहमें विषमता होनेपर भी यह दूषित नहीं है वरं आवश्यक है।

पदार्थोंकी विषमता लीजिये—अग्नि और जलमें विषमता है, विष और अमृतमें विषमता है, मीठे और कटुमें विषमता है, पथ्य और कुपथ्यमें विषमता है। व्यवहारमें पुरुष और स्त्री-जातिमें विषमता है; पुरुष-पुरुषमें भी पिता और पुत्रमें भेद आवश्यक है, स्त्री-स्त्रीमें भी माता और स्त्रीमें भेद रखना धर्म है। अपने ही शरीरमें दाहिने और बायें हाथमें भी व्यवहारका भेद युक्तिसङ्गत है। संसारमें जहाँ विशेष समताका उदाहरण दिया जाता है वहाँ कहा जाता है कि 'ये दोनों हमारे दायें-बायें हाथके समान एक-से हैं।' परन्तु देखा जाता है कि दाहिने-बायें हाथके व्यवहारमें परस्पर बड़ा अन्तर है। खान, पान, दान, सम्मान आदि उत्तम व्यवहार और प्रधान-प्रधान क्रियाएँ अधिकांशमें दाहिने हाथसे की जाती हैं और शौचादि अपवित्र व्यवहार बायेंसे होते हैं। इसी प्रकारका व्यवहारका भेद अपने अङ्गोंमें भी है। पैर, हाथ, मस्तक आदि एक ही शरीरके अङ्ग हैं; परन्तु चरणसे शूद्रका, हाथोंसे क्षत्रियका और मस्तकसे ब्राह्मणका-सा व्यवहार होता है। किसीका सत्कार करते समय सिर झुकाया जाता है न कि पैर सामने किया जाता है। सिरपर लाठी आती हो तो हाथोंकी आड़से उसे बचाते हैं न कि पैरोंकी आड़ की जाती है। पैरोंपर लाठी लगनेकी सम्भावना होनेपर उन्हें सिकोड़कर बैठ जाते हैं और पैरोंको बचाकर हाथोंपर और पीठपर चोट सह लेते हैं। किसी दूसरे मनुष्यके चरणका स्पर्श हो जानेपर मस्तक नवाकर और हाथ जोड़कर क्षमा-प्रार्थना करते हैं। अङ्ग सभी हमारे हैं, फिर पैर लगा तो क्या और हाथ छू गया तो क्या। परन्तु व्यवहारमें ऐसा नहीं माना जाता। मस्तकके हाथ स्पर्श करनेसे हाथको अपवित्र नहीं मानते;

किन्तु उपस्थ-गुदादि इन्द्रियोंसे छू जानेपर हाथ धोते हैं। जब अपने एक ही शरीरमें व्यवहारका इतना भेद आवश्यक और युक्तियुक्त समझा जाता है, तब देश, काल, जाति और पदार्थोंमें रहनेवाले अनिवार्य भेदको दूषित मानना तो सर्वथा अयुक्त और न्यायविरुद्ध है। इतना भेद होनेपर भी आत्मदृष्टिमें कोई भेद नहीं है। किसी भी अङ्गके चोट लगनेपर उसे बचानेकी चेष्टा समान ही होती है और दुःख-दर्द भी समान ही होता है। प्रसूति और रजस्वला-अवस्थामें हम अपनी पूजनीया माताके साथ भी अस्पृश्यताका व्यवहार करते हैं; किन्तु वही माता यदि बीमार हो तो हम उसी अवस्थामें आदरपूर्वक उनकी सेवा करते हैं और तदनन्तर स्नान करके पवित्र हो जाते हैं। इसी प्रकार पशु, पक्षी या मनुष्य आदिमें जो अस्पृश्य माने जाते हैं, उनके साथ अन्य समय व्यवहारमें भेद होनेपर भी उनकी दुःखकी स्थितिमें प्रेमपूर्वक सबकी सेवा करनी चाहिये। सेवा करनेके बाद स्नान करनेपर मनुष्य पवित्र हो जाता है। इस प्रकार शास्त्रानुमोदित व्यवहारकी विषमता आवश्यक और उचित है। इसको अनुचित मानना ही अनुचित है। अवश्य ही आत्मामें इससे कोई भेद नहीं आता और न भेद मानना ही चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६। २९)

'हे अर्जुन! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत सङ्कल्पके आधार देखता है।'

श्रुति कहती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईश० ६-७)

'जो विद्वान् सब भूतोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सब भूतोंमें देखता है वह फिर किसी भी प्राणीसे घृणा नहीं करता । तत्त्ववेत्ता पुरुषके लिये जिस कालमें सम्पूर्ण भूतप्राणी आत्मा ही हो जाते हैं अर्थात् वह सबको आत्मा ही समझ लेता है, उस समय एकत्वको देखनेवालेको कहाँ शोक और कहाँ मोह है ?'

इस प्रकार व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार भगवत्-प्रीत्यर्थ या लोकसंग्रहके लिये ममता और स्वार्थसे रहित होकर न्याययुक्त विषमताका व्यवहार करते हुए भी सबमें उपाधियोंके दोषसे रहित ब्रह्मको सम देखना और राग-द्वेष आदि विकारोंसे रहित होकर मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति, सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि समस्त द्वन्द्वोंमें सर्वदा समतायुक्त रहना ही यथार्थ साम्यवाद है । इसी साम्यवादसे परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है ।

आजकलका साम्यवाद ईश्वरविरोधी है और यह गीतोक्त साम्यवाद सर्वत्र ईश्वरको देखता है; वह धर्मका नाशक है, यह पद-पदपर धर्मकी पुष्टि करता है; वह हिंसामय है, यह अहिंसाका प्रतिपादक है; वह स्वार्थमूलक है, यह स्वार्थको समीप भी नहीं आने देता; वह खान-पान-स्पर्शादिमें एकता रखकर आन्तरिक भेदभाव रखता है, यह खान-पान-स्पर्शादिमें शास्त्रमर्यादानुसार यथायोग्य भेद रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता और सबमें आत्माको अभिन्न देखनेकी शिक्षा देता है; उसका लक्ष्य केवल धनोपासना है, इसका लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति है; उसमें अपने दलका अभिमान है और दूसरोंका अनादर है, इसमें सर्वथा अभिमानशून्यता है और सारे जगत्में परमात्माको देखकर सबका सम्मान करना है, कोई दूसरा है ही

नहीं; उसमें बाहरी व्यवहारकी प्रधानता है, इसमें अन्तःकरणके भावकी प्रधानता है; उसमें भौतिक सुख मुख्य है, इसमें आध्यात्मिक सुख मुख्य है; उसमें परधन और परमतसे असहिष्णुता है, इसमें सबका समान आदर है; उसमें राग-द्वेष है, इसमें राग-द्वेषरहित व्यवहार है।

अतएव इन सब बातोंपर विचार करके बुद्धिमान् पुरुषोंको इस गीतोक्त साम्यवादका ही आदर करना चाहिये।

देश-काल-तत्त्व

देश और कालके सम्बन्धमें हमलोगोंका जो ज्ञान है वह बहुत ही सीमित और सङ्कुचित है। हमलोग प्रायः इस स्थूल देशको ही देश और युग, वर्ष आदि स्थूल कालको ही काल समझते हैं। इनकी गहराईमें नहीं जाते। देश क्या वस्तु है, उसका मूल स्वरूप क्या है; समय या काल क्या वस्तु है और उसका मूल स्वरूप क्या है, इसे ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर लेनेपर देश और कालविषयक हमारा अधूरा ज्ञान बहुत अंशोंमें पूर्ण हो सकता है और हमारी दृष्टि सीमित देश और परिमित कालसे परे पहुँच जा सकती है।

विचारणीय विषय यह है कि हम जिस आकाशादिको देश और युग, वर्ष, मास, दिन आदिको काल समझते हैं वह देश-काल तो प्रकृतिसे उत्पन्न है और प्रकृतिके अन्तर्गत है। परन्तु महाप्रलयके समय जब यह कार्यरूप सम्पूर्ण जगत् अपने कारणरूप प्रकृतिमें लय हो जाता है उस समय देश-कालका क्या स्वरूप होता है ? वह देश-काल प्रकृतिका कार्य होता है या कारण ?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे यह प्रतीत होता है कि स्थूल देश-काल जिस प्रकृतिरूप देश-कालमें लय हो जाता है वह प्रकृतिरूप देश-काल तो प्रकृतिका स्वरूप ही है और इस प्रकृतिका जो अधिष्ठान है अर्थात् यह प्रकृति अपने कार्य सम्पूर्ण जड दृश्यवर्गके लय हो जानेके बाद भी जिसमें स्थित रहती है, वह अधिष्ठान प्रकृतिका कार्य कभी नहीं हो सकता। वह तो सबका परम कारण है और सबका परम कारण वस्तुतः एकमात्र विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही है। उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी अंशमें मूलप्रकृति या माया स्थित है। वह प्रकृति कभी साम्यावस्थामें रहती है और कभी विकारको प्राप्त होती है। जिस समय वह साम्यावस्थामें रहती है उस समय अपने कार्य

समस्त जड दृश्यवर्गको अपनेमें लीन करके परमात्माके किसी एक अंशमें स्थित रहती है और जिस समय वही परमात्माके सकाशसे विषमताको प्राप्त होती है, उस समय उससे परमात्माकी अध्यक्षतामें संसारका सृजन होता है। सांख्य और योगके अनुसार सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके स्वरूप हैं, परन्तु गीता आदि वेदान्तशास्त्रोंके अनुसार ये प्रकृतिके कार्य हैं।

गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । (गीता १४।५)

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ (१३।१९)

प्रकृतिमें विकार होनेपर पहले सत्त्वगुणकी उत्पत्ति होती है, फिर रजोगुणकी और उसके बाद तमोगुणकी। सत्त्वगुणसे बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ, रजोगुणसे प्राण और कर्मेन्द्रियाँ तथा तमोगुणसे पञ्च स्थूलभूतोंकी उत्पत्ति हुई है। इन्हीं भूतोंमें आकाश है और यही आकाश* हमारे इस व्यक्त स्थूल देशका आधार है। इसी प्रकार हमारा युग, वर्ष, मास, दिन आदिरूप स्थूल काल भी प्रकृतिसे प्रादुर्भूत है। यह देश-कालका स्थूल रूप है। यह जड और अनित्य है। सबका अधिष्ठान होनेसे परमात्मा ही सबको सत्तास्फूर्ति देता है, इस प्रकार वह समस्त ब्रह्माण्डमें प्रत्येक वस्तुमें व्याप्त होनेपर भी इस स्थूल देश-कालसे और इस देश-कालके कारणरूप प्रकृतिसे भी परे है। स्थूल देश-कालको तो हमारी इन्द्रियाँ और मन समझ सकते है; परन्तु सूक्ष्म देश-कालतक उनकी पहुँच नहीं है। महाप्रलयके समय प्रकृति जिस परमात्मामें

---

* यह आकाश प्रकृतिका कार्य होनेसे उत्पत्ति, स्थिति और लय धर्मवाला है। माया यानी प्रकृति इसका आधार है। प्रकृतिका आधार विज्ञानानन्दघन परमात्मा है, यह पोलरूपी आकाश मूल तन्मात्रारूप आकाशका एक स्थूलस्वरूप है। यह पोल समष्टि अन्तःकरणमें है, समष्टि अन्तःकरण मायामें है और माया परमात्मामें वैसे ही है जैसे स्वप्नका देश-काल स्वप्नद्रष्टा पुरुषके अन्तर्गत रहता है। वस्तुतः यह आकाश या पोल परमात्माका संकल्पमात्र है। इस संकल्पका अभाव होनेपर, जिसका संकल्प है, वह अपनी प्रकृतिसहित स्वयं अधिष्ठानरूपसे रहता है, वह किस प्रकार रहता है सो नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है।

स्थित रहती है और जबतक स्थित रहती है, वह अधिष्ठानरूप देश और काल वास्तवमें परमात्मा ही है। वही मूल महादेश और महाकाल है। वह चेतन, उपाधिरहित, नित्य, निर्विकार और अव्यभिचारी है। वह कालका भी महाकाल * और देशका भी महादेश है। सारे काल और देश एक उसीमें समा जाते हैं। परमात्माका यह नित्य सनातन, शाश्वत और चिन्मय स्वरूप ही देश-कालका आधार है। यह सदा-सर्वदा एकरस है। अव्याकृत मूलप्रकृति महाप्रलयके समय इसी परमात्मारूप देश-कालमें रहती है। हमारी बुद्धिमें आनेवाला यह मायारचित जड और अनित्य देश-काल तो बुद्धिका कार्य है, और बुद्धिके अन्तर्गत है। बुद्धि स्वयं मायाका कार्य है। इस मायाके स्वरूपको बुद्धि नहीं बतला सकती; क्योंकि यह बुद्धिसे परे है, बुद्धिका कारण है। इस मायाके दो रूप माने गये हैं—एक विद्या, दूसरा अविद्या। समष्टिबुद्धि विद्यारूपा है और जिसके द्वारा बुद्धि मोहको प्राप्त हो जाती है, वह अज्ञान ही अविद्या है। अस्तु,

उपर्युक्त विवेचनके अनुसार देश-कालके ये तीन भेद होते हैं—

१- नित्य महादेश या नित्य महाकाल।

२- प्रकृतिरूप देश या प्रकृतिरूप काल।

३- प्राकृत यानी प्रकृतिका कार्यरूप स्थूल देश या स्थूल काल।

इनमें पहला चेतन, नित्य, अविनाशी, अनादि और अनन्त है। शेष दोनों जड, परिवर्तनशील, अनादि और सान्त हैं।

---

* यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥
(कठ० १।२।२४)

'जिस आत्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों भात हैं और मृत्यु जिसका उपसेचन (शाक-दाल आदि) है वह जहाँ है उसे इस प्रकार (ज्ञानीके सिवा और) कौन जान सकता है?'

जिसको सनातन, शाश्वत, अनादि, अनन्त, कालस्वरूप, नित्य, ज्ञानस्वरूप और सर्वाधिष्ठान कहते हैं, निर्विकार परमात्माका वह स्वरूप ही मूल नित्य महादेश और महाकाल है।

महाप्रलयके बाद जितनी देर प्रकृतिकी साम्यावस्था रहती है, वही प्रकृतिरूप काल है और अपने कार्यरूप समस्त स्थूल दृश्यवर्गको धारण करनेवाली होनेसे यह कारणरूपा मूलप्रकृति ही प्रकृतिरूप देश है।

आकाश, दिशा, लोक, द्वीप, नगर और कल्प, युग, वर्ष, अयन, मास, दिन आदि स्थूल रूपोंमें प्रतीत होनेवाला प्रकृतिका कार्यरूप यह व्यक्त देश-काल ही स्थूल देश और स्थूल काल है।

इस कार्यरूप स्थूल देश या स्थूल कालकी अपेक्षा तो बुद्धिकी समझमें न आनेवाला प्रकृतिरूप देश-काल सूक्ष्म और पर है; और इस प्रकृतिरूप देश-कालसे भी वह सर्वाधिष्ठानरूप देश-काल अत्यन्त सूक्ष्म, परातिपर और परम श्रेष्ठ है जो नित्य, शाश्वत, सनातन, विज्ञानानन्दघन परमात्माके नामसे कहा गया है। वस्तुतः परमात्मा देश-कालसे सर्वथा रहित है, परन्तु जहाँ प्रकृति और उसके कार्यरूप संसारका वर्णन किया जाता है, वहाँ सबको सत्ता- स्फूर्ति देनेवाला होनेके कारण उस सबके अधिष्ठानरूप विज्ञानानन्दघन परमात्माको ही देश-काल बतलाया जाता है। संक्षेपमें यही देश-काल-तत्त्व है।

ईश्वर और धर्मका शासन न रहनेके कारण अधर्मीलोग अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये पाखण्ड रचकर दुनियाको धोखा देंगे। बलवान् और अधिकारसम्पन्न लोग क्रोध और मोहके वश हो दुर्बलों और गरीबोंपर वैसे ही अत्याचार करेंगे जैसे वनके बलवान् पशु निर्बल, निरपराधी पशुओंको दुःख देते हैं। नृशंसता बढ़ते-बढ़ते घोर राक्षसीपन आ जायगा और निरपराध पशु-पक्षियोंकी तो बात ही क्या, स्वार्थवश हुए मनुष्य ही मनुष्यको खाने लगेंगे। मान, मोह और मदमें भूले हुए अधर्मीलोग स्वार्थसिद्धिके लिये मनमाना आचरण करेंगे। बलवान्, धनी और शिक्षित कहलानेवाले मनुष्य ही ईश्वर, महात्मा, योगी समझे जायँगे। ऐसी अवस्थामें जगत् दुःखमय हो जायगा। अधर्मके कारण ही आज पुण्यभूमि भारतवर्ष पराधीन, दीन, दुःखी हो रहा है। अधर्मकी वृद्धिका ही यह परिणाम है जो आज भारतवर्षमें नित नयी महामारियाँ बढ़ रही हैं, मनुष्योंकी आयु कम हो गयी है, पशुधन नष्ट हो रहा है। भूकम्प और बाढ़ आदि दैवी प्रकोपोंसे प्राणी दुःखी हो रहे हैं और अन्न-वस्त्रके बिना प्राण-त्याग कर रहे हैं। फिर अधर्मकी विशेष वृद्धि होनेपर तो दुःख और भी बढ़ जायँगे। अधर्मका फल निश्चय ही दुःख है। परन्तु धर्मका फल दुःख कदापि नहीं हो सकता। संसारका इतिहास देखनेसे पता लगता है कि सच्चे धर्मकी ही सदा जय हुई।

'**धर्मसे लाभ और अधर्मसे हानि**' नामक पुस्तकसे

रोगी कुपथ्य कर ही लिया करते हैं। इसमें अपना क्या वश है। कुपथ्य करनेपर सद्वैद्य रोगीको धमका तो देता है परन्तु नाराज नहीं होता। वह समझता है कि मेरी पाँच बातोंमेंसे तीन तो इसने मान लीं। दोके लिये फिर चेष्टा करेंगे। वैद्य बारम्बार चेष्टा करता है, जिससे वह कुपथ्य न करे। परन्तु चेष्टा करनेपर भी उसका हित न हो तो वैद्यको उकतानेकी जरूरत नहीं है। न क्रोध ही करनेकी आवश्यकता है। फलको भगवान्‌की इच्छापर छोड़ देना चाहिये और बिना उकताये प्रभुकी लीलामें उनके इच्छानुसार लगे रहना चाहिये।

'**अमूल्य शिक्षा**' नामक पुस्तकसे

लोगोंसे छोटे-छोटे जीवोंकी बहुत हिंसा होती है। हमें चलने, हाथ धोने, कुल्ला करने तथा मल-मूत्र त्याग करनेमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये। हम इन जीवोंके जीवनका कुछ मूल्य नहीं समझते। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि इस उपेक्षाके कारण बदलेमें हमें भी ऐसी ही निर्दयताका शिकार होना पड़ेगा। जो मनुष्य जीवोंकी हिंसाका कानून बनाता है उसे तरह-तरहके कष्ट उठाने पड़ेंगे। यदि कोई पुरुष कुत्तेको रोटी देना बंद करेगा तो उसे भी कुत्ता बनकर भूखों मरना पड़ेगा। यदि किसीने म्युनिसिपलिटीमें कुत्तोंको मारनेका कानून बनाया तो उसे भी कुत्ता बनकर निर्दयतापूर्वक मृत्युका सामना करना पड़ेगा। कसाइयोंकी तो बड़ी ही दुर्दशा होगी। धन्य है, उन राजाओंको जिनके राज्यमें हिंसा नहीं थी।

'**भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा**' नामक पुस्तकसे

१-रुपयोंकी कामनासे संसारका काम करनेपर मन संसारमें रम जाता है। इसलिये संसारके काम बड़ी ही सावधानीसे केवल भगवत्-प्राप्तिके उद्देश्यसे करने चाहिये।

२-संसारके पदार्थों और सांसारिक विषयी मनुष्योंका संग जहाँतक हो, कम करना चाहिये। सांसारिक विषयोंकी बातें भी यथासाध्य कम ही करनी चाहिये।

३-किसी दूसरेके दोष नहीं देखने चाहिये, स्वभाववश दीख जायँ तो बिना पूछे बतलाने नहीं चाहिये।

४-सबमें निष्काम और समभावसे प्रेम रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

५-निरन्तर नाम-जपके अभ्यासको कभी छोड़ना नहीं चाहिये। उसमें जिस कार्यसे बाधा आती हो, उसे ही छोड़ देना उचित है। परम हर्ष और प्रेमसे नित्य-निरन्तर भजन होता रहे तो फिर भगवद्दर्शनकी भी आवश्यकता नहीं है। भजनका प्रेम ऐसा बढ़ जाना चाहिये कि जिसमें शरीरका भी ज्ञान न रहे। भगवान् स्वयं पधारकर चेत करावें तो भी सुतीक्ष्णकी भाँति प्रेम-समाधि न टूटे।

'**ईश्वर और संसार**' नामक पुस्तकसे